TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182794

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H730.954 T36B Accession No. 12835

Author ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ

Title भारत शिल्प के षडङ्ग

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारत शिल्प के षड़ङ्ग

अवनीन्द्र नाथ ठाकुर

भारत शिल्प के षड़ङ्ग

लेखक

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक

महादेव साहा

नया साहित्य प्रकाशन

२ डी मिंटो रोड इलाहाबाद

प्रथम-संस्करण: जुलाई, १९५८

मूल्य : १.५० नये पैसे

पुस्तक-संख्या : ६

मुद्रक: सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहाबाद

प्रकाशक: नया साहित्य प्रकाशन,

२ डी, मिंटो रोड, इलाहाबाद

आमुख

भारत शिल्प के षडंग पर लिखी अवनीन्द्रनाथ की यह निबन्धावली १३२१ वंगाब्द मे 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। अंगरेजी[1] और फ्रांसीसी[2] में इनका अनुवाद हो चुका है। चीन और भारत-शिल्प के षडंग का तुलनात्मक विवेचन पहिले पहल अवनीन्द्रनाथ ने ही किया और अपने विषय का यह विवेचन आज तक अद्वितीय है।

अवनीन्द्रनाथ की इस षडंग व्याख्या को बहुतेरे शिल्पशास्त्रियों ने पूरी तरह ग्रहण नहीं किया है। फिर भी इस विषय का अध्ययन करनेवाले, शिल्पाचार्य की इस व्याख्या का समादर करेंगे। अवनीन्द्रनाथ के मतामत जो सविस्तार जानना चाहते हैं उन्हे उनकी 'वागेश्वरी-शिल्प-प्रबन्धावली' पढ़नी चाहिए।

—अनुवादक

---

1. Sadanga or the Six Limbs of Painting. The Indian Society of Oriental Art, Calcutta 1921.

2. Sadanga, or les six canons de la Peinture hindoue, Editions Bossard, Paris 1922.

भारत शिल्प के षडङ्ग

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्॥

वात्स्यायन—कामसूत्र के प्रथम अधिकरण तृतीय अध्याय की टीका में यशोधर पंडित ने आलेख्य के ये छः अंग बतलाए हैं। यथा—प्रथम रूपभेद, द्वितीय प्रमाण, तृतीय भाव, चतुर्थ लावण्ययोजन, पंचम सादृश्य, षष्ठ वर्णिकाभंग।

कामसूत्र का रचनाकाल किसी ने ई० पू० ६७१, किसी ने ई० पू० ३१२ और किसी ने ईसवी २०० माना है। यशोधर पंडित ने कामसूत्र की टीका ई० ११–१२वीं शताब्दि में की।

जिन प्राचीन और वृहत्तर शास्त्रों का सार संकलन करके वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना की थी वे सारे शास्त्र अब शुप्त हो गये हैं। अतएव वात्स्यायन कथित पूर्वशास्त्र समूह में—जैसे बाभ्रव्य के सूत्रार्थ और आगम आदि में—इस षडंग का प्रयोग किस रूप में वर्णित हुआ था,

इसे जानने की कोई सूरत नहीं है। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर पंडित भी किस प्राचीन टीका का अवलम्बन कर के अपनी जयमंगल टीका की रचना कर गये हैं, इसका उल्लेख नहीं किया है। अतएव चित्र में यह षडंग कितने प्राचीन काल से भारत में प्रचलित था, इसे बताना कठिन है। लेकिन कामसूत्र में जब चित्रकला का उल्लेख है तब वात्स्यायन के पहले से ही चित्रविद्या के साथ चित्र का षडंग भी इस देश में प्रचलित था इसका सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। कम से कम वात्स्यायन जिस समय कामसूत्र की रचना कर रहे थे उस समय चित्र का यह षडंग जनता में सुविदित था इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि कामसूत्र के उपसंहार में वात्स्यायन ने स्पष्ट ही कहा है :—

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपसृत्य च।
कामसूत्रमिदं यत्नात् संक्षेपेण निवेशितम्॥

अर्थात् पहले के शास्त्रों का संग्रह और शास्त्रोक्त विद्याओं के प्रयोग का अनुसरण करके अर्थात् उन विद्याओं को कार्यतः लोग किस तरह से प्रयोग कर रहे हैं, उसे देख सुन कर यत्नपूर्वक संक्षेप में मैंने इस कामसूत्र की रचना की है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक राजपूताना के अन्तर्गत जयपुर ने चित्रकला की चर्चा में विशेष स्थान अधिकार कर रखा है। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर पंडित जयपुर के अधिपति प्रथम जयसिंह के सभापंडित थे। अतएव चित्र के जो षडंग जयपुर के चित्रकारों में बहुत दिनों से प्रचलित था उसका पता पाना यशोधर के लिए कठिन नहीं था। हमारा षडंग, यशोधर के बहुत पहले प्राचीन काल से ही भारतीय शिल्पियों को सुविदित था; क्योंकि हम देखते हैं कि ई० ४७९ से ५०१ के बीच चीन के शिल्पाचार्य Hsieh Ho ने चित्र के जो षडंग (Six Canons) लिपिबद्ध किये वे कार्यतः हमारे षडंग के ही अनुरूप हैं। इसके अलावा हम यह भी देखते हैं कि चीन में ई० ३०० में अमिताभ बुद्ध मूर्ति सर्वप्रथम चीनी शिल्पी Tai Kuci ने बनाई। अतएव Hsieh Ho के पहले से ही बौद्ध शिल्पपद्धति और उसके साथ हमारे चित्र के षडंग का भी चीन में पहुँचना अचरज की बात नहीं है। प्राचीन सभ्यता की लीलाभूमि भारतवर्ष और चीन इन दो महादेशों में प्रचलित चित्र के षडंग निकट आत्मीय हैं यह निम्नलिखित चीन-षडंग के अनुवाद से हमारे षडंग को मिलाने से समझ में आ जाता है। चीन का षडंग, जैसे :—

1. Chi-yun Sheng-tnngw=Spiritual Tone and Life-movement.
2. Ku-fa Yung-pi=Manner of brush-work in drawing lines.

3. Ying-wu hasiang hsing=Form in its relation to objects.
4. Sui-Lei fu-tsaiw=Choice of colour appropriate to the objects.
5. Ching-ying Wei-Chih=Composition and grouping.
6. Chuan-moi-hsichw=The copying of classic masterpieces.

—Sei-Ichi Taki, The kokka, No. 244.

चीनी षडंग के उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद के चीनी भाषा के योरोपीय पंडितों और जापान के मशहूर शिल्परसिक ओकाकुरा के अनुवाद में पूरा मेल नहीं दिखाई पड़ता। अतएव उन्हें भी नीचे उद्धृत किया जा रहा है। जैसे—

1. Rhythmic vitality.
2. Anatomical structure.
3. Conformity with nature.
4. Suitability of colouring.
5. Artistic composition.
6. Finish.

—Giles, Introduction to the History of Chinese Pictorial Art, p. 24.

1. Spiritual Element, Life's Motion.
2. Skeleton-drawing with the brush.
3. Correctness of outlines.
4. The colouring to correspond to nature of objects.
5. The correct division of space.
6. Copying models.

—Hirth, Scraps from a Collector's Note-book, p. 58.

1. La Consonance de l'esprit engendre le mouvement [de la viea].
2. La loi des os au moyen du pinceau.
3. La forme representee dans la conformite avec les etres.
4. Selon la similitude (des objects) distribuer la couleur.
5. Disposer les lignes et leur attribuer leur place hieraarchique.
6. Propager les formes en les faisant passer dans le dessin.

—Petrucci, La Philosophie de la Nature dans l' Art de l' Extreme orient, —p. 89

1. Rhythmic vitality, or Spiritual Rhythm expressed in the movement of life.

2. The art of rendering the bones or anatomical structure by means of the brush.

3. The drawing of forms which answer to natural forms.

4. Appropriate distribution of colours.

5. Composition and subordination, or grouping according to the hierarchy of things.

6. The transmission of classic models.

—Binyon, The Flight of the Dragon, p. 12-13.

1. The Life-movement of the spirit through the Rhythm of Things.. the great Mood of the Universe, moving hither and thither amidst those harmonic laws of matter which are Rhythm.

2. The law of Bones and Brush work. The creative spirit, according to this, in descending into a pictorial conception must take upon itself organic tructure.

—Okakura, Ideals of the East, p. 52.

चीन का षडंग नाना मुनियों के नाना मत के कुहरे के अन्दर से जिस प्रकार प्रकट होता है और देश-काल-पात्र-भेद से वह किस प्रकार परिवर्तित और परिवर्धित हो उठा है वह यद्यपि हमारे देखने की वस्तु है और प्राच्य जगत् के दो महादेशों में कौन सा प्राचीनतर है, इसका भी निर्णय करना यद्यपि हमारा कर्तव्य है, फिर भी चित्र और उसके षडंग के सम्बन्ध में जो स्वतंत्र चिन्तन और ध्यानादि वास्त्यायन् के बहुत पहले से ही हमारे अन्दर प्रचलित हुआ था उसी का यथासम्भव विवेचन करना हमारा प्रधान लक्ष्य है।

पंचदशी के चित्रदीप अध्याय में शास्त्रकार चित्रपट की चारों अवस्थाओं से ब्रह्म का स्वरूप और ब्रह्माण्ड का रहस्य निर्णय कर रहे हैं। चित्रकला अवश्य ही हमारे देश में शौकिया खेल नहीं था, हमारे ज्ञान और कर्म के साथ इसका गहरा सम्बन्ध था। चित्रकला को हमारे पुरखे जिस दृष्टि से देखते थे एक चीन और जापान को छोड़ कर और किसी जाति ने उस दृष्टि से देखा है, ऐसा नहीं लगता। चित्र के इस षड़ंग का प्रयोग हमारे देश में बहुत दिनों से प्रचलित था और उसके सम्बन्ध में आज के युग में भी हमें चर्चा करने की आवश्यकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं; और जिस प्रकार से हम नये सिरे से चित्रविद्या की चर्चा करने के लिए आगे बढ़े हैं, उसी तरह चित्र के षडंग से भी फिर एक बार नये सिरे से परिचय कर लेना आवश्यक समझ अंग्रेजी अनुवाद के साथ उसे दे रहा हूँ। जैसे—

१. रूपभेदा:—Knowledge of appearances.

२. प्रमाणानि—Correct perception, measure and structure of forms.

३. भावः—The action of feelings on forms.

४. लावण्ययोजनम्—Infusion of grace, artistic representation.

५. सादृश्यम्—Similitudes.

६. वर्णिकाभंगः—Artistic manner of using the brush and colours.

चित्रयोग के इस षडंग साधनों पर यथासंभव विस्तारपूर्वक लिखने के पहिले भारत और चीन के शिल्पाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट दोनों सिद्धान्तों में कितना अन्तर है, इसे जानना आवश्यक है। हम देखते हैं कि, दोनों षडंगों की तुलना करने से उनमें अक्षरसः समानता न होने पर भी उनमें एक सामंजस्य है इस बात को मान लिया जा सकता है। लेकिन इतना होने पर भी दोनों एक ही चीज है यह नहीं कहा जा सकता। नदी के इस पार और उस पार दोनों को जिस तरह एक नहीं कहा जा सकता, उसी तरह चित्र के बारे में विचारधारा के इन दोनों किनारों को एक ही वस्तु नहीं कहा जा सकता। हमारा किनारा कर्म का है और उनका मर्म का। चित्र के सम्बन्ध में विचारधारा बीच से होती हुई कभी कुछ इधर को और कभी कुछ उधर को छूती हुई प्रवाहित हो रही है।

दोनों षड़ंगों में २ से ६ तक इन पाँच अंगों में जितना मेल या जितना अंतर दिखाई पड़ता है वह कोई खास ध्यान देने लायक बात नहीं है। लेकिन दोनों षडंगों के शीर्षस्थान में 'रूपभेदाः' और Rhythmic Vitality (प्राणछन्द) हैं, इन दोनों में अनबन है, यह साफ ही दिखाई पड़ रहा है। अब विचार करने की बात यह है कि जिस छन्द को चीनी शिल्पाचार्य चित्र का प्राणस्वरूप बतला रहे हैं, उस वास्तविक आवश्यक बात का हमारे षडंगकार उल्लेख तक न कर रूपभेद को ही प्राधान्य क्यों देते हैं? हम देखते हैं कि, हमारे आचार्यों ने जब जिस तत्त्व को लिया है, उसी पर गहरे से गहरा सूक्ष्म-से सूक्ष्मतर पक्ष को ले कर विचार करके तब छोड़ा है। केवल आलेख्यतत्त्व के मामले में ही इसका अपवाद क्यों दिखाई पड़ता है? हमारा षडंगसूत्र किसी बड़े सूत्र का अंश मात्र है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्पष्ट ही कहा गया है कि इति चित्र षडंगकम्—चित्र के ये षडंग हैं—इसके बाहर कुछ नहीं है।

प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग ये पाँचों गवाह हैं और रूपभेद नामक सुमेरु से षड़ंग की जो सुमिरनी चित्र साधना के लिए हमारे शास्त्रकार ने तैयार कर दी है, उस माला में किस मंत्र के जपने का उपदेश दिया गया है, यही ध्यान देने की चीज है। माला फेरते समय साधक की उँगली सुमेरु से शुरू कर के एक-एक गवाहों को छूती हुई फिर सुमेरु पर पहुँच कर विश्राम करती है। सुमेरु से ही जप की गति शुरू होती है और सुमेरु पर ही पहुँच कर जप को मुक्ति या स्थिति मिलती है। अब दिखाई पड़ता है कि चित्र की गति की मुक्ति सुमेरु में ही होती है। हमारे शास्त्रकारों के मतानुसार यही सुमेरु 'रूपभेदा' और चीन के शास्त्रकारों के अनुसार 'Rhythmic Vitality' या जीवनछन्द है। अब ये दोनों सुमेरु एक ही वस्तु हैं या नहीं अथवा एक ही पर्वत के दो पहलू हैं या नहीं, इसी को जानना आवश्यक है।

'रूपभेद' हमारा और 'जीवनछन्द' चीन का मूलमंत्र है, इसमें संदेह नहीं। रूप और प्राण यही दोनों चित्र के इति और अन्त हैं। प्राण अभिव्यक्ति पाने के लिए रूप की कामना रखता है,

चित्र में छन्द और रस

इति चित्रम् षडंगकम् !

छः सुशिक्षित घोड़ों की तरह षडंग जिसे रथ की भाँति हमारे सामने से लिए जा रहा है वह चित्र क्या है ? उसका निर्माता कौन है ? और उस चित्र विचित्र रथ का अधिष्ठाता कौन देवता है ?

पहिले ही देखा जाय कि चित्र किसे कहते हैं। जिसमें रूप का भेदाभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग ये छः वर्त्तमान हैं, वही चित्र है। अगर यह कहते हो तो मेरे कमरे में बिछे हुए इस विलायती गलीचे को भी चित्र कहना पड़ेगा। क्योंकि इसमें भी नाना फल-फूलों के रूपभेद, गलीचे का चतुष्कोण मानप्रमाण, गलीचे पर बने एक-एक फल और फूल के भाव और लावण्य जिनका बिलकुल ताजे फूल से सादृश्य है और जिसका जो रंग होता है वह रंग सोलहो आने दिखाई पड़ रहा है। अगर कहते हो कि गलीचे को दीवार पर टाँगा नहीं जा सकता है, किताब में भी नहीं दिया जा सकता है, अतएव वह चित्र नहीं है—लेकिन अगर मैं एक सुन्दर सूक्ष्म गलीचा बुन कर दीवार पर टाँग दूँ अथवा किताब में दे दूँ तब क्या वह चित्र बन जायगा ? दीवार पर टाँगने, किताब में छापने से ही चित्र नहीं बन जाता है। तूलिका से जो चित्रित होता है वही चित्र है। किन्तु तूलिका से जो लट्ठ चित्रित किया गया है या तूलिका से कमरे को नाना रंगों से चित्रित किया गया है तो क्या इन्हें चित्र कहोगे ? अतएव देखो, जो कुछ भी तूलिका से चित्रित होता है-मिट्टी या लकड़ी या कपड़े का टुकड़ा; वह चित्र नहीं है। या वाह्य वस्तु की नकल जैसे फोटोग्राफ या यह विलायती गलीचा, ये भी चित्र नहीं हैं।

कोश में लिखा गया है, चीयते इति चित्रम्। चित्रकार चयन करता है, यह सच है। वह वहिर्जगत-अन्तर्जगत दोनों के भावों का चयन करता है, लावण्य का चयन करता है, रूप प्रमाण सादृश्य वर्णिकाभंग का चयन करता है। लेकिन इस चयन की समष्टि को तो चित्र नहीं कह सकते। फूलों को चुन कर डाली सजाना माली की करामात है; लेकिन यह करामातमात्र ही तो चित्र का सब कुछ नहीं है। दस चीजों का संग्रह एकत्र प्रकाशित करने से वह इनसाइक्लोपीडिया या विश्वकोष बनता है चित्र तो नहीं बनता है। इसलिए कहना पड़ता है कि, जो चित्रकार के चयन की स्वाभाविक परिणति करनेवाली अकृत्रिम षडंग-माला है, वही चित्र है।

बाहर का संसार रूप रस शब्द स्पर्श सुगंध छायातप आलोक-अंधकार से दस फूलों की डाली की तरह विराजमान है। अन्तर कमल-सरोवर, सुख-दुःख आनन्द-अवसाद, भाव-भक्ति के सुर-लय की लहरी से भरपूर है। चित्रकार इन दोनों में आवागमन करके पुष्प चयन कर रहा है और मननसूत्र से अपूर्व माला गूंथ रहा है और उस माला से सजा कर पुष्पक-रथ निर्माण कर रहा है। लेकिन किसे ले जाने के लिए, किस देवता को माला पहना कर इस रथ पर अधिष्ठित करके हमारे घरों में पहुँचा देने के लिए ? मैं कहता हूँ कि आत्म-देवता को, चित्रकार की अपनी आत्मा को। यह आत्मा अगर पट पर चित्रित या अधिष्ठित रहती है तब

एकमात्र वही चित्र है। अगर गलीचे पर अधिष्ठित रहती है तो वही चित्र है। यदि घर की दीवार पर अथवा पुस्तक के पृष्ठों पर अधिष्ठित होती है तो वह भी चित्र है।

आत्मा आत्मीयता के लिए व्याकुल है। चारों ओर की आत्मीयता के अन्दर अपने को प्रकट करने के लिए उसमें एक विशाल अभिव्यक्ति की वेदना उदित हो कर निरन्तर काम कर रही है। इस अभिव्यक्ति वेदना के उदय होने की अभिव्यक्ति ही चित्र है। इस उदय का रंग, इस वेदना की शोणिमा जब आ कर सफेद कागज को रंगती है, उसे रूप देती है, उसे प्रमाण देती है, भाव लावण्य सादृश्य वर्णिकाभंग देती है, तभी वह चित्र होता है। सूर्य किस अंधकार की ओट में उदित हो रहे हैं, इसे कौन जानता है ? हम उन्हें तभी देखते हैं जब वह उदय के रश्मिजाल से आकाशपट को रंग देते हैं। जब सूर्योदय जलस्थल-अन्तरीक्ष में विचित्र रूप-प्रमाण-भाव-लावण्यादि को सोने के एक जाग्रत स्वप्न से उद्बोधित करके अपना उद्बोधन हमें बनाते हैं। अतएव हम देखते हैं कि जो चित्र है उसके प्रारम्भ में एक गोपन उदय-उत्स है, जिसके अन्दर अभिव्यक्ति की वेदना है, और जिसका अंत एक अनिर्वचनीय रसोदय में होता है, जहाँ चित्र की परिणति होती है। और इन दोनों उदयों के बीच में है रूप, भाव, लावण्य इत्यादि का छन्द आकृति सांचा या आच्छादन। चित्र तब बनता है जब चित्रकार की अन्तर्निहित उदयकामना या अभिव्यक्ति वेदना छन्द के नियमों में अपने को बाँध कर अन्तर्वाह्य दो प्रकार से अपने को रसोदय में परिणत करती है। शब्द-चित्र, संगीत, वाच्यचित्र, कविता, दृश्यचित्र, पट और मूर्ति आदि कोई भी सृजन के इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुसरण किये बिना अभिव्यक्त हो ही नहीं सकते। अगर कुछ इस स्वाभाविक प्रक्रिया का अतिक्रमण कर उदय होता है तो उसे संगीत, कविता या चित्र नहीं कहूँगा। उसे पागल का तरंग, मतवाले का प्रलाप कह सकता हूँ। पागल और मतवाले के अन्तर की उत्कट अभिव्यक्ति-वेदना, उदयकामना किसी भी तरह अपने को छंद में नहीं बाँध पा रही है, छन्द के आवरण और आच्छादन को वह दूर फेंक कर उलंग हो कर दिखाई पड़ रही है, इसलिए वेदना में ही उसकी परिसमाप्ति होती है, रसोदय के आनन्द में नहीं, चित्र प्रथमोदय में या प्रकाश वेदन की अवस्था में अरुण या अव्यक्तराग, शब्द रहित होता है; उदय की द्वितीय अवस्था में वह प्रन्यून, छन्द के अन्दर संप्रेषित प्रचलित या कल्पित होता है; और उदय की तीसरी अवस्था में वह अनून, अखण्ड समग्र अर्थात् रूप प्रमाण भाव लावण्य सादृश्य वर्णिकाभंग से परिपूर्ण सूर्य की तरह अखण्ड मंडलाकार में उदित होता है।

अब हम देखते हैं कि चित्र के प्रथमोदय और पूर्णोदय के ठीक मर्मस्थान में छन्द है—ऊषा की भाँति दीप्तिमान, शोभा के लिए जलोर्मि की भाँति उत्थित—समस्त स्थान को सुपथ-युक्त और सुखगमन योग्य बनाते हुए। चित्रकार के मन में प्रकाश वेदन और चित्र का प्रकाश इसी के बीच में ऊषा की आनन्द की कली की भाँति छन्द है; इसलिए छन्द को कहा गया है छन्दयति इति छन्द। क्योंकि वे आनन्दित करते हैं। इनके उदय के उन्मेष और उदय की समाप्ति इन दोनों की शुभ दृष्टि के ऊपर प्रच्छदपट की भाँति दोदुल्यमान हैं; इसीलिए कहा गया है, आच्छादयति इति छन्द। ऊषा के अन्दर जैसे उदय का अभिप्राय निहित रहता है उसी तरह छन्द के अन्दर से

चित्रकार का मनोभिप्राय अपने को व्यक्त करता ह; इसीलिए छन्द को ही 'अभिप्राय' कहा जाता है। अब हम देखते हैं कि छन्द आनन्दकारी, छन्द आच्छादनकारी होता है। छन्द अभिप्राय, छन्द अभिप्राय को वाहित करनेवाला सुपथ है, छन्द नदी के जल की भाँति तरंगमाला की शोभा है। छन्दस्तु नानाविधम्। छन्द बहुविध होता है; रूप का प्रमाण का भाव का लावण्य का सादृश्य का वर्णिकाभंग का छन्द। छन्द साँचा है। छन्द छान कर बाँधना है। छन्द किसमें नहीं है? कहाँ नहीं है? छन्द अंट-संट बातों में है, छन्द नववधू के टाँड़ (बाहु-भूषण) और कंकण के रुनझुन में है; छन्द समुद्र और चन्द्र के पुनर्मिलन में है, छन्द दिनमणि के विरह में है; कमलिनि के म्लानमुख पर है, छन्द आह्लाद में है, विषाद में है, शुष्कता में है, पूर्णता में है; छन्द का हास्य और रुदन से भरे पूर्णिमा-अमावस्या, शीत-बसंत में सारे संसार में उत्थान और पतन हो रहा है। छन्द हमारे अपने-अपने मन में है; छन्द बाहर के विश्व-संसार में, एक में, अनेक में. अनेक को मिला कर एक में है।

तुम हम दो तुम्ब बीच सुर
बाजै ताजा ताजा।
उजर कबहूं काजर कब हूं
रंग रंग नित बाजा।

अन्तर और बाहर इन दो तुम्बियों के बीच असीम विरह, अनन्तमिलन नये-नये साँचों में बँध कर वर्ण गंध शब्द स्पर्श आदि के वैचित्र्य से मानो धूप-छाँह का रूप धर कर झंकृत हो रहा है।: तरंगायित हो रहा है। यही तरंग, यही झंकार ही छन्द बनती है। और कवि तथा चित्रकार इसी तरंगित झंकृत रेखा और लिखावट की वर्णमाला के वरमाल्य से बांध-छाँन कर रूप में रस, रस में रूप प्रदान करते हैं। अन्तर बाहर की ओर बाहर अन्तर की ओर हाथ बढ़ाये दौड़ा आ रहा है; ये दोनों हाथ जिस जगह आ कर बँध रहे हैं वहीं छन्दमाला दोदुल्यमान है। एक सुर जीवन के कूल से अकूल की ओर दौड़ रहा है, और एक दूसरा सुर किसी अकूल से जीवन के कूल पर आना चाह रहा है; इन दोनों कूलों, दोनों सुरों की आकुलता-व्याकुलता जहाँ आ कर मिल रही है, वहीं देखता हूँ कि छन्द की शुभ्र तरंगमाला रूप धारण करके फूल रही है, लोट रही है। अन्तर से पिचकारी छूट कर बाहर को रँग रही है, बाहर से पिचकारी छूट कर अन्तर को रंग रही है; यह दौड़ कर निकलने और दौड़ कर भीतर आने में जो हिन्दोल या होली लीला होती है उसी को छन्द कहते हैं।

हमलोग जिस लोक में वास कर रहे हैं उसे ब्रह्मलोक कहते हैं। यहाँ जो कुछ है वह सब छायातप से हमारी दृष्टि में आता है। छायातपयोरिव ब्रह्म लोके। इसलिए देखते हैं कि छाँद और बाँध भी इस छायातप में हमारे निकट प्रकाश पा रहे हैं। छन्द का छायावाला पक्ष मानो वधू है, बहुत कुछ घूँघट से ढकी हुई; और आतप बाला पक्ष मानों वर है, गोपनता का लेशमात्र उसमें नहीं है। छन्द के इस छायातप के युगल-मिलन और सारे रहस्य का प्रत्यक्ष दृष्टांत हमें घर-घर में वर-वधू के गठबंधन के आद्यन्त व्यापार में मिलता है।

या छन्दस्थली में जो व्यापार होता है उसे छाँदनी कहते हैं—छन्दनी शक्ति को झक-झोर कर जगाना या छन्द के मंगलसूत्र को बाँधना है।

यह छन्दस्थली घर के आंगन में गृहस्थी के सातखण्डों के सातछन्दों की प्राचीर से मानो घिरे स्थान में बनाई जाती है और मस्तक पर बिलकुल खुले आकाश का चन्द्रातप लाखों-करोड़ों ग्रह-नक्षत्रों के विराट छन्द से दोदुल्यमान है; पैरों के नीचे रहती हैं सारे आँगन में फैली रेखाएँ और वर्ण के छन्द में बँधे कमल और भौंरे की, नहीं तो राजहंस-मृणाल की, चक्रवाक-चक्रवाकी के मिलन-विरह की छन्द कल्पना। इस छन्द बंधन के व्यापार का सब कुछ परिणीता रमणियों द्वारा ही होने का विधान है; कुमारी या विधवा जिनका जीवन छन्द एक दूसरे जीवन छन्द में जा कर अभी मिला नहीं है या मिल कर फिर विच्छिन्न हो गया है, ऐसे किसी को भी इस व्यापार में सम्मिलित होने नहीं दिया जाता है।

पहले वर या छन्द के आतप के पक्ष को सभा में आने के पथ पर धतूरे या नवरस के नशे का, नहीं तो सात वर्णों का या सात सुरों के त्रिसप्तक की संख्या के अनुसार, नहीं तो सात या इक्कीस प्रदीपों को सूप में सजा कर वर के सिर पर से लाजांजलि या पुष्प वृष्टि की तरह फेंका जाता है। इसके बाद वर को मंडप के नीचे रख कर रमणियाँ अपरिणत नवागत छन्द के अन्तर बाहर दोनों साँचों को ही नापती हैं; पहले एक सीधी वंसी के बराबर छड़ी से छन्द के छोटे बड़े का प्रमाण, इसके बाद निमुख लता जिसमें काँटे नहीं होते और जिसके पत्तों का मुंह सूच्यग्र और तीक्ष्ण नहीं होता ऐसी एक लता बल्लरी से छन्द की भंगी और अन्त में एक रँगे हुए मानसूत्र से छन्द के अन्तर के रंग और गहराई पानी में रस्सी डाल कर नापने की तरह देख लिया जाता है। जो अन्तर के इस मानसूत्र को रंजित करती हैं, वह भी सधवा या परिणीता छन्द हैं। इसके बाद मानो वर्ग के पांच-पाँच अक्षरों को ही छन्द के साथ एकत्र गूँथ कर पाँच पान, पाँच फल, पाँच अलक्त वगैरह से लता और रक्तसूत्र—जैसे प्रमाण लावण्य और भाव से ही छन्दों को बाँधते हैं—वर का हाथ बाँधा जाता है। इसके बाद सारे छन्द को मानो सुशीतल माधुर्य से परिपूर्ण करने के लिए ही दो रमणियाँ—पतिसोहागिन होने के लिए जिनकी ख्याति है ऐसी दो रमणियाँ—मुँह में मीठा ले कर या माधुर्य रस का आस्वाद लेते-लेते निराले में बैठी "आइ आमला"—सखी के प्रेम में जो सुशीतल अम्लरस है उसी को मानो बाँट कर माधुर्य में मिला कर जिस अमृतरस को तैयार कर रखती हैं उसी को सात पानों पर रख कर मानो वर्णसप्तक और सुरसप्तक में मिला कर वर को या छन्द को श्रवण आघ्राण दर्शन स्पर्शन कराया जाता है। मानो कहा जाता है, छन्द तुम मधुर बनो तुम्हारा रूप, तुम्हारा स्पर्श, ध्वनि और सौरभ मधुर हो; तुम्हारा स्वाद मधुर हो, तुम्हारा आपाद मस्तक, अन्तर-बाहर मधुर और शीतल हो कर बहे। इस प्रकार वर या छन्द को माधुर्य प्रदान कर के, सात रमणियाँ या सप्त छन्द एक-एक जन एक-एक रंग-चित्र की आलोकवर्त्तिका ले कर ज्योति की एक छन्दमाला की भाँति वर की सात वार प्रदक्षिणा करके मंडप या छन्द बाँधने की पहली रीति सम्पन्न करती हैं।

मंडप के नीचे दूसरी रीति में छन्दबंधन का मामला हमें और भी साफ दिखलाई पड़ता

है। इस रीति के प्रथम अंक में सात भँवर होती हैं। पहली जल की झारी ले कर जलोर्मि के छन्द से, दूसरी सात आलोकवर्तिका ले कर सूर्य की सप्त-रश्मि के छन्द से, तीसरी श्री ले कर, चौथी मध्यमा या प्रधाना एक ढके हुए भाँड़ में जलते हुए दीपक को ले कर—मंगल-भांड या बहू-भांड या आइ-भांड—नव वधू के मन के गोपन छन्द को वहन करके, पाँचवीं वरण डाली मानो छः ऋतुओं के वर्णिकाभंग के सभी छन्दों को ले कर, छठी शंखध्वनि के मंगल छन्द को वहन करके और साँतवीं ऊलु दे कर या वाणी की झंकार से सात भँवर कर वर का वेष्टन करती हैं।

इस रीति के द्वितीय अंक में सात छन्दों में एक-एक से वरण किया जाता है। इसमें पहले पहल जलहाथ या जलोर्मि और सब से आखीर में प्रदीप से सेंकना या नवरस का अभिसिंचन है।

तीसरे अंक में कन्या या अनूढ़ा के छन्द को वर की ओर, वायु तरंग के छन्द के ऊपर से ही चार पुरुष-छन्द चार वेद या छन्दस्गण वहन कर लाते हैं। आच्छादन (छन्द के) की ओट से और वधू छन्द या छन्द की छाया की ओर को ले कर वर छन्द या छन्द के आतप की ओर सात बार प्रदक्षिणा कराते हैं। पिता के साथ कन्या के मन का छन्द, भाव का छन्द जैसे छिन्न हो रहा है उसी कारण से ही पिता-माता इस समय कन्याछन्द का वहन नहीं करते हैं।

रीति के चौथे अंक में शुभदृष्टि होती है। इस पार जो है, उस पार जो है, उनमें शुभदृष्टि-छायातप की शुभदृष्टि—आच्छादन को (छन्द को) सिर पर ले कर।

पाँचवें अंक में माला-परिवर्तन या दोनों ओर के अथवा छायातप के गान्धर्व परिणय में छन्दबन्धन सार्थक होता है। यथाप्सु परिवद दृशे तथा गन्धर्व लोके—गन्धर्व लोक में जैसे सब कुछ ही वायु-तरंग के, शब्द तरंग के, रस तरंग के ऊपर तरंगित रूप में दिखलाई देते हैं उसी तरह मंडप के नीचे इस गन्धर्व परिणय का सब कुछ छन्दमय एक हिल्लोल के अन्दर से मानो छन्द को ही हमारे गोचर में ला रहा है।

इस देश में स्त्रियों के हाथ में पहिनने के बहुतेरे गहने हैं, उनमें से एक का नाम है छँद् वा छन्द। इस छँद् को धारण करने के नियम में और इस आवरण की बनावट की कल्पना में छन्द और छन्दबोध के सारे रहस्य को हम निहित पाते हैं। पहली बात यह है कि छँद् की बनावट पूर्णचन्द्र सी होती है और एक विकसित कमल के फूल के ऊपर सजा कर मानो अरुणोदय के छन्द और चन्द्रोदय के छन्द से कमल के छन्द के गोपन-सम्बन्ध को प्रकट करते हों। इसके बाद छंद को पहिनने का नियम इस प्रकार है—एक ओर टाँड़ अर्थात् तट की गोद में तीन जलतरंग चूड़ियाँ, और दूसरी ओर पहुँचो और कंकण की गोद में तीन जलतरंग चूड़ियाँ। दोनों ओर दो भूषण तरंग और उसके दोनों कूल-उपकूलों के ठीक बीच में छँद् वा छन्द रहता है—दोनों कूलों को मिलाते हुए—टाँड़ और कंकण दोनों के झंकार को एक सुमधुर निक्कण में नियंत्रित करते हुए। इस छन्द के बगैर आभूषण पहिनना जिस प्रकार अशोभन होता है, उसी प्रकार छन्द के बगैर चित्र लिखना भी अशोभन होता है।

अलंकार पहिनने के एक और नियम से हमारे देश के पुराने युग की स्त्रियों के छन्द ज्ञान का परिचय मिलता है। सारे गहने पहिन कर सब कुछ के चकाचौंध के ऊपर अत्यन्त

सूक्ष्म मलमल का आच्छादन डालने की प्रथा पुराने युग में थी मानों आभरण के पूर्ण प्रकाश के अन्दर शुभ्रवर्णा ऊषा का आवरण आच्छादन या छन्द हो।

इस छन्द का परित्याग करने पर घर में लक्ष्मी नहीं रहतीं, काम में सिलसिला नहीं रह जाता। छाँद श्री है। उसको बाँधना ही छाँद में बांधना या श्री राधिका के कानड़ा-छाँद् में कवरी जूड़ा बांधना है। निरा बंधन-कष्ट का बंधन हथकड़ी का बंधन होता है। और छाँद का बंधन शीत-ग्रीष्म के बीच वसंत तिलक की तरह मनोहर होता है। बिना छाँद दिये बाँधना किसे नहीं आता है? एक रसिक को छोड़ कर छाँद से बाँधना किसी दूसरे का काम नहीं।

एत छांदे के ना बांधे चूल
ए तोमार चूड़ाय मजाइल जाति कूल।...
के बा नाहि गाँथे वनमाला
तोमार मालाय से एतेक केनो ज्वाला।...
के ना थाके त्रिभंग हइया
प्राण कान्दे ए रूप हेरिया।...
के बा नाहि कहे कथाखानि
तोमार चांदमुखे सुधा खसे जानि।

यह जो वस्तु जाति कुल को डुबोती है, कष्ट देती है, प्राणों को रुलाती है, वाणी से सुधा बरसाती है, रूप को भंगिमा देती है, वही छन्द है। इस छन्द की शक्ति का बोध करना या कराना ही छन्द बोध है और इस छन्दशक्ति को रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग के द्वारा उद्बोधित करना ही चित्र में प्राणप्रतिष्ठा करना है।

अब, चित्र के प्राण का प्राण जो रस है वह क्या है? छन्द है। जिसे चित्रकार के चित्त से, चित्र में और चित्र से फिर मेरे चित्त में प्रवाहित कर रहा है! रसो वै सः! रसना, रस का आस्वादन करना ही जिसका काम है उससे पूछो, वह कहेगी 'रस रस ही', है बोलने कहने में रसना कभी भी चैन नहीं लेती, लेकिन रस की बारी आनेपर वह कहती है, 'बस'—छन्द की परिणति रस में होती है, लेकिन रस की परिणति किसमें होती है? कहना पड़ेगा, इसलिए कहता हूँ 'बस' में, या आँसुओं की बूँदों में। इससे अधिक साफ तौर से रस को नहीं समझाया जा सकता है। यही रस है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स च न कार्यः नापि ज्ञाप्यः! तो क्या वह आकाश-कुसुम की तरह काल्पनिक है? कदापि नहीं। रस हो रहा है। रस पा रहा हूँ! रस है यह देख रहा हूँ। पुर इव परिस्फुरन्—मानो सामने है। हृदयमिव प्रविशन—मानो हृदय के अन्दर है। सर्वांगीनमिवमालिंगन—सर्वांग आलिंगन करके।

रसोन्मत्त मोर के सारे बदन में रस मणियों की ज्योति की भाँति चमक रहा है—इस बात को आँखों से देख रहा हूँ कि रस से उसका हृदय सुरापात्र की भाँति भर रहा है, रस उसके विचित्र पुच्छ के रोम रोम में सिहरन पैदा करके निर्झर की भाँति झर रहा है, रस को देख रहा

हूँ, रस को सुन रहा हूँ। कैसे कहूँ कि रस कल्पनामात्र है। नये नये चित्र, विचित्र रंग और भंगिमा रस के शृंगार वेष हैं। अयम् शृंगारादिको रसः अलौकिकचमत्कारकारी—वह अलौकिक एक चमत्कार सामग्री है। वह है, वह आ रहा है। अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्—उसके सामने कोई चीज टिक नहीं पा रही है, रस सब कुछ को बहाये जा रहा है, रस में सभी डूबे जा रहे हैं! विराट प्लावन की तरह सब से ऊपर, ब्रह्मस्वादमिव अनुभावयन्—मानो बृहत् के आस्वाद से हमें भी उस प्रकाण्ड आस्वाद रस ने बड़ा कर दिया है।

रस जब चित्र का सर्वस्व है, उसके प्राणों का प्राण है तो एक प्राण-रसना को छोड़ कर दूसरी कोई इन्द्रिय—न आँख न कान—चित्र का आस्वाद ग्रहण नहीं कर रहे हैं—चित्रितव्य का स्वाद नहीं पा रहे हैं। चित्र की उत्पत्ति, चित्र की परिणति ये दोनों ही जब प्राणों के अन्दर रहें, तो प्राणों से ही उन दोनों को देखना पड़ता है, केवल आँखों से ही नहीं—यहाँ तक कि जितना आँखों से देख रहा हूँ, हाथों से पकड़ पा रहा हूँ उसे भी केवल आँखों से देखना नहीं, केवल हाथों से छूना ही नहीं प्राणों से देखना, प्राणों से स्पर्श करना चाहिए।

चोखे देखे गाय ठेके धुलो आर माटि।
प्राणरसनाय देखरे चाइखा रसेर साँइ खाँटि।
चोखे धुलो आर माटि, प्राणे रसेर साँइ खाँटि।
रूपेर रसेर फूल फुइटा जाय,
आमार परान – सुता कइ?
बाइरे बाजे साँइर बाँशि,
आमि शुइना आकुल होइ।
आमार मिलनमाला हइलो ना रे,
लाजे पथ हाँटि,
केवल हाँटि, आर हाँटि।

भारत-षडङ्ग

१. रूपभेद

रूप रूप में विभिन्नता, रूप का मर्म भेद या रहस्य-उद्घाटन—जीवित रूप—निर्जित रूप, चाक्षुष रूप, मानस रूप, सुरूप, कुरूप इत्यादि। माँ की गोद में सब से पहले आँखें खोलने से ले कर हम रूप को ही देख रहे हैं। ज्योतिः पश्यति रूपाणि! ग्रह नक्षत्र की ज्योति रूप को प्रकट कर रही है, आत्मा की ज्योति रूप को प्रकट कर रही है—आलोक के छन्द में, भाव के छन्द में—बहुधा बहु प्रकार से। यथा—

ज्योति पश्यंति रूपाणि रूपंच बहुधा स्मृतम्।
ह्रस्यो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरश्रोहनुवृत्तवान् ॥३३॥

शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलोहरुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः॥३४॥
—महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय १८४

ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण और नाना कोण—जैसे त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोणादि एवं गोलाकृति, अण्डाकृति; अथवा श्वेत, कृष्ण, नीलारुण (बैंगनी) तथा नाना वर्णों के मिश्रित रूप; रक्त-पीतादि एक-एक स्वतंत्र वर्ण रूप; कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण (सूक्ष्म, कृप, स्निग्ध, स्वल्प), पिच्छिल, अर्थात् फिसलाहट पैदा करने वाला, जैसे कीचड़, जैसे जल, पिच्छिल जैसे छत्राकार मोर की पूँछ; मृदु जैसे शिरीष फूल, दारुण जैसे लोहे का भीम; छोटे बड़े, मोटे पतले, कटे छँटे, गोल, काले, सफेद, एक रंगे, पँच रंगे इत्यादि।

ऊपर के श्लोक में जो १६ प्रकार के रूप कहे गये हैं उनका विस्तार अनन्त है। इस रूप की असीमता एक-एक पदार्थ में विच्छिन्न है। भिन्न-भिन्न प्रकार से देखना और इस अखण्ड विभिन्नता को एक में समाहित असीम में प्रतिष्ठित देखना ही आँखों और आत्मा का काम है। पहिले पहल रूप से आँखों का परिचय होता है, धीरे-धीरे उससे आत्मा का परिचय होता है—यही रूपभेद की प्रारम्भिक और अन्तिम बात है।

आँखों से जब रूपभेद को समझने चलते हैं तो एक रूप से दूसरे रूप की तुलना कर के दोनों का पार्थक्य देखने चलते हैं—ह्रस्व को दीर्घ से, चतुष्कोण को नानाकोण या निष्कोण से, कठिन को कोमल से और एक वर्ण को दूसरे वर्ण की बराबरी में खड़ा कर। इस प्रकार केवल आँख से देखने की दृश्य वस्तु तुम्हारे लिए जैसी है, वैसी ही हमारे लिए भी। रमणी को तुम भी रमणी देख रहे हो, मैं भी रमणी देख रहा हूँ; तुम जिस रूप में उसे चित्रित कर रहे हो, मैं भी उसी रूप में चित्रित कर रहा हूँ, और यह फोटो-यंत्र भी उसी प्रकार से चित्रित कर रहा है। अतएव केवल आँखों की सहायता से चित्रित होता है तो तुम्हारे चित्रित, मेरे चित्रित और फोटो-यंत्र द्वारा चित्रित रूपों में विभिन्नता नहीं रह जाती है; ज्यादा से ज्यादा रूप का एक पक्ष तुमने दिखाया, मैंने दिखाया दूसरा पक्ष, उसने दिखाया और एक पक्ष। शायद तुमने दिखाया एक रमणी पानी लाने जा रही है, शायद मैंने दिखाया कि वह रमणी बाल सँवार रही है और उसने दिखाया कि वह बच्चे को दूध पिला रही है। अथवा हम तीनों में से ही एक ने चित्र बना कर दिखाया कि तीन भिन्न-भिन्न रमणियाँ उन तीन कामों में लगी हुई हैं। लेकिन इतना कुछ करने पर भी क्या समझा पा रहे हैं कि यह रमणी माता है; यह घर की बहू है या घर की दासी है? यह नहीं कह सकते कि दूध पिलाने वाली ही माता है, बालों को सँवारने वाली ही बहू है और पानी लाने के लिये जाने को उद्यत ही दासी है; क्योंकि धाय भी दूध पिलाती है, माता भी बाल सँवारती है और बहू भी पानी लाने जाती है! हो सकता है कि तुमने, जो पानी लाने जा रही है उसे मैले वेश से, जो बाल सँवार रही है उसे सिंदूर आदि से, इसी प्रकार समझाया कि, यह दासी है, यह बहू है! लेकिन मातृरूप के बारे में क्या करोगे? सन्तान रूप के बारे में क्या करोगे? बच्चे को गोद में दे कर ही तो नहीं समझा पा

रहे हो कि यह माँ है, यह बेटा है—यह धाय नहीं है, वह पालित पुत्र भी नहीं है। दो किशोरियों को पास-पास बैठा कर, तसवीर के नीचे लिखे बगैर नहीं समझा सकते कि ये बहने हैं, दो पड़ोसिनें नहीं। मलिन वेश से ही तो दावे के साथ नहीं कह सकते कि यही दासी है, यह दुखिया के घर की लक्ष्मी नहीं है। अतएव देख रहे हो—काम की भिन्नता, वेश की भिन्नता—यहाँ तक कि आकृति की भिन्नता से भी तुम चित्रित रमणी रूप की सत्ता, जैसे, उसका मातृत्व, भगिनित्व, दासित्व इत्यादि सिद्ध नहीं कर पा रहे हो। यह नहीं कह सकते कि रूप में इसका सत्तादान असम्भव है, जब तुम्हारी आँखों के सामने है रैफेल का मातृरूप, हमारे कृष्ण राधा का युगल रूप और पाषाण रेखाओं में प्रकाशित तैंतीस करोड़ दिव्यरूप।

इसलिए केवल दोनों आँखों पर चित्र में रूपभेद दिखाने का पूरा भार दे कर हम निश्चिन्त नहीं हो पा रहे हैं; क्योंकि आँखें काम में धोखा देना चाह रही हैं, रूप की सत्ता को वह देखने और दिखाने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए रमणी रूप को वह नटी की तरह कभी मलिन, कभी उज्ज्वल वेश में, कभी उसकी गोद में लड़का दे कर, कभी उसके हाथ में झाड़ू दे कर समझाना चाहता है कि यह दासी है, यह माता है, यह रानी है, यह मेहतरानी है! लेकिन भिन्न-भिन्न वेशों के अन्दर से दिखाई पड़ रहा है वही नटी रूप, जो माता भी नहीं है, रानी भी नहीं है। अतएव हम देखते हैं कि चित्रकार के लिए एकमात्र आँखों का रास्ता ही अच्छा रास्ता नहीं है; क्योंकि रूप की वहिरंगीण भिन्नता को पकड़ने और पकड़ा देने पर भी आँखें भिन्न-भिन्न रूपों की सत्ता को, अर्थात् रूप के असल भेदाभेद को नहीं पकड़ पाती हैं, पकड़ भी नहीं सकती हैं। रूप के इस असल भेद या रूप के मर्म को हम केवल ज्ञान चक्षु के द्वारा पकड़ सकते हैं।

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते।—पंचदशी, द्वैतविवेक।

भिन्न-भिन्न रूपों की सत्ता को प्रकट कर वह ज्ञान ही रूप का यथार्थ भेद बतला रहा है। माता के दूध पिलाने के साथ साथ, जनम कर बड़े होने के साथ-साथ, प्रतिदिन के हँसने रोने इत्यादि के अन्दर से जिन सत्ताओं का ज्ञान हमने पाया है उसे रूप के अन्दर प्रेषित करना ही रूप का मर्म देना, जीवन देना, अथवा रूप का सुरूप या स्वरूप दिखाना है। इसका उलटा है रूप को निर्जित करना या रूप को अरूप करना।

अपनी रुचि के अनुसार हम रूप को सु और कु दो प्रकार की विभिन्नता प्रदान करते हैं। रुचि है हमारे मन की दीप्ति या चिर यौवन शोभा। इसके द्वारा ही रूपवान वस्तुमात्र की रुचिरता का हम अनुभव करते हैं। जिसके मन है उसी में रुचि भी है, उसी प्रकार आकृति मात्र की अपनी-अपनी एक रुचि या दीप्ति या शोभा है। इन दोनों साथियों के मिलन को जभी देखते हैं तभी सुरूप देखते हैं; और इसके विपरीत मानों रूपहीन देखते हैं।

वस्तु रूप हमारे सामने पड़ते ही हमारे मन की दीप्ति या रुचि लालटेन की रोशनी की तरह वस्तु पर जा पड़ती है और वस्तु की दीप्ति या शोभा हमारे मन पर पड़ती है। अगर वस्तु रूप की रुचि हमारी रुचि के अनुकूल नहीं होती है तो हम वस्तु से अपनी दीप्ति फेर लेते हैं, जैसे

मुंह फेर लिया, और कहते हैं यह रूप कुरूप है; इसके विपरीत होने पर हम देखते हैं कि वस्तु सुरूप है। अतएव रूप को देखना और रूप को रेखादि के द्वारा चित्रित करके दिखाना हो तो यह रुचि, मन की दीप्ति या चिरयौवन शोभा ही चित्रकार की एकमात्र सहाय और चिरसंगी है। सभी प्रदीपों की दीप्ति बराबर नहीं होती है, उसी प्रकार सभी मनुष्यों के अन्तःकरण में यह रुचि समभाव से उज्ज्वल नहीं होती। इसलिए तुम्हारे देखने और मेरे देखने में, मेरे चित्रित करने और तुम्हारे चित्रित करने में रूप का प्रभेद दिखाई पड़ता है, उत्तमाधम भेदाभेद रहता है। मन की रुचि या दीप्ति को उज्ज्वलतर बनाना ही रूप साधना है। इस दीप्ति की प्रेरणा से चित्र की रेखा को दीप्तिमती-लिखित आकृति के रूप को दीप्तिमती बनाना ही षडंग का प्रथम भेदाभेद है, रूपभेद पर अधिकार प्राप्त करना है।

व्यंजको वा यथालोको व्यंग्यस्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते॥
—पंचदशी, द्वैतविवेक।

जब देखता हूँ कि सभी वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाला आलोक जब जिस वस्तु को आलोकित कर रहा है तभी उस वस्तु को आकार प्राप्त हो रहा है, नहीं तो स्वरूप प्रकट नहीं हो रहा है, उसी प्रकार सभी वस्तुओं का यथार्थ्य प्रकाशक अन्तःकरण जब जिस वस्तु के ऊपर पड़ता है तभी उस वस्तु को आकार प्राप्त होता है। नहीं तो तद्वस्तु का ज्ञान किस प्रकार से होता है? केवल आँखों की दीप्ति से रूप को देखना नही, दिखाना नहीं, मन की दीप्ति से उसे प्रकाशित देखना होगा और प्रकाशित भी करना होगा। इसलिए शुक्राचार्य ने प्रतिमा का लक्षण लिखने के प्रारम्भ में ही कहा है—नान्येन मार्गेण प्रत्यक्षेणापि वा खलु। आँखों से रूप देखना नहीं, लिखना भी नहीं।

२. प्रमाण

प्रमाणानि—वस्तु रूप के बारे में प्रमा या भ्रम विहीन ज्ञान प्राप्त करना; नैकट्य, दूरत्व और उसकी लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि का मान परिमाण, संक्षेप में वस्तु का ब्यौरा।

आँखें देख रही हैं समुद्र का अनन्त विस्तार, लेकिन कई अंगुल-परिमित पट पर हमें समुद्र दिखाना होगा। सारे कागज को नीले रंग में डुबो कर नहीं कह पा रहा हूँ कि यही समुद्र है। क्योंकि वह एक चौकोर नीले काँच की तरह लग रहा है—बिलकुल सीमाबद्ध क्षुद्र पदार्थ! अनन्त का तनिक भी आभास उसमें नहीं है। इसी समय ही हम समुद्र के अनन्त विस्तार को आकाश और तट इन दो सीमाओं से परिमिति या प्रमिति देने जाते हैं। हम तट को पट का इतना, आकाश का इतना स्थान लेने देंगे और बाकी स्थान समुद्र के लिए छोड़ देंगे—यह है हमारे प्रमातृ-चैतन्य या प्रमा का प्रथम कार्य। इसके बाद प्रमा से हम निरूपण करने बैठते हैं—कलर से भरे तट से सोने के आलोक से रंजित आकाश के पीतवर्ण का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद, दोनों में स्वच्छता और

कर्कशता का भेद और तट तथा आकाश दोनों से जल के तरंगित-रूप और वर्ण का भेद, समुद्र की तरंगमाला से आकाश की मेघमाला का रूपभेद इत्यादि सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकृति भेद, वर्ण भेद, लम्बाई-चौड़ाई विस्तार आदि का भेद; केवल यही नहीं, भाव के भेद तक! आकाश की निर्निमेष नीरवता, समुद्र की सनिर्घोष चंचलता यहां तक कि तटभूमि की सहिष्णु निश्चलता तक! स्वच्छ आकाश की दीप्ति की गहराई, सुनील जल की दीप्ति की गहराई और तटभूमि में सन्ध्या का जो आलोक दीप्ति पा रहा है या सारी तसवीर पर रात की जो गहराई घनी हो रही है उसे भी प्रमा के द्वारा परिमिति दे कर हम निरूपण कर लेते हैं। तट समुद्र और आकाश इनमें जो दूरत्व और नैकट्य है इसे भी हम प्रमा की सहायता से अनुमान कर लेते हैं। यह प्रमा सान्त और अनन्त दोनों को नापने, समझ देखने के लिए हमारे अन्तःकरण का आश्चर्यजनक मापदण्ड है। क्षुद्रातिक्षुद्र की नाप भी दे रहा है, बृहत् से बृहत् की नाप भी दे रहा है, गहरे और छिछले दोनों की नाप दे रहा है; रूप की भी नाप दे रहा है, भाव की भी नाप दे रहा है, लावण्य सादृश्य वर्णिकाभंग सभी की नाप और ज्ञान दे रहा है।

संगीताचार्य लड़के को गाना सिखा रहे हैं। लड़के का प्रमातृचैतन्य अभी भी अविकसित अवस्था में है। इसलिए सुर को वह जितनी बार दोहराने की कोशिश कर रहा है उतनी ही बार गलती कर रहा है; या तो सुर चढ़ जाता है नहीं तो नरम हो जाता है; और इधर बँधा सुर भी लगातार कहता जा रहा है—'नहीं, नहीं, नहीं हुआ।' इसके बाद देखते हैं कि बहुत दिनों तक इस सुर को नापते नापते सुर के बारे में लड़के में प्रमातृचैतन्य जैसे ही सोलहो आने जाग उठा है उसी दिन गले का सुर और तानपूरे का सुर बिलकुल मिल गया है।

प्रमा जन्म से ही केवल मनुष्यों में ही काम नहीं कर रही है; निम्नकोटि के जीवों में भी इसका परिचय पा रहा हूँ। जहाँ एक पत्ता खड़का वैसे ही हरिण की प्रमा दोनों कान खड़े करके शब्द को तौल रही है—वह पत्ता खड़कने का शब्द है या किसी अज्ञात शत्रु का सतर्क पदक्षेप! वह शेर है या आदमी है या खरगोश जैसा कोई छोटा जानवर है या नहीं इत्यादि। सभी शिकारी जानवरों में प्रमा की यह प्रखरता हमें दिखाई पड़ती है। चिड़िया जैसे ही पेड़ से उतरी वैसे ही बिल्ली उसकी ओर चल पड़ी—एक एक पग-पग करके चिड़िया और अपने बीच की दूरी को प्रमा से नापते हुए। आखिरकार बिल्ली ऐसी जगह आ कर खड़ी हुई जहां से ठीक एक छलाँग में वह चिड़िया पर जा सकती है—बाल बराबर इधर-उधर नहीं हो सकता। ठीक कितने जोर से छलाँग मारनी होगी, उसे भी बिल्ली प्रमा की सहायता से इसी समय तौल कर तब काम में आगे बढ़ती है। इधर चिड़िया का प्रमातृचैतन्य भी सो नहीं रहा है। वह मिट्टी पर उतरने के बाद से बिल्ली की प्रमा की दौड़ का अन्दाज ले रही है और शत्रु तथा अपने बीच के फासले को अभ्रान्त रूप से निरूपण करके नाना प्रकार के कीड़ों-मकोड़ों का शिकार करते हुए स्वयं स्वच्छन्द विचरण कर रही है। कीड़े-मकोड़े भी चिड़िया की प्रमा और बिल्ली की प्रमा के पैरों की आहट नहीं सुन रहे हैं और बिलों में नहीं छिप रहे हैं, यह कौन कह सकता है!

प्रमा से केवल दूरी-निकट का ही बोध होता है ऐसी बात नहीं, किस वस्तु को कितना दिखाने से वह मनोहर होगी उसे भी यह निश्चित करती है। ताजमहल के निर्माता स्थपतियों ने उसकी प्रमा पत्थर के गुम्बद को न जाने कैसी परिमिति दी है कि ऐसी दूसरी गुम्बद दुर्लभ है। इस गुम्बद के परिमाण को अगर बाल भर भी इधर-उधर किया जाय तो देखोगे कि शाहजहाँ का मर्मर-स्वप्न वाणविद्ध राजहंस की तरह धूल में लोटने लगेगा। ताज अपने हीरे जवाहरात के लिए सुन्दर नहीं है उसकी हैरत में डालनेवाली परिमिति ने ही उसे सुन्दर बनाया है। हजारों कोशिश करने पर भी यूरोप की विख्यात मिलो की 'वीनस' की मूर्ति के दोनों खोये हुए हाथों को आज तक कोई भी मिला न सका। कैसी आश्चर्यजनक परमिति अज्ञात शिल्पी की प्रमा ने वीनस की मूर्ति को दी है।

अतएव देखता हूँ कि 'प्रमाणानि' केवल गणितशास्त्र का इंच, गज, फुट नहीं है। वह हमलोगों का प्रमातृचैतन्य है, जो अन्दर-बाहर दोनों को ही परिमिति दे रहा है।

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नम् मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतम् तच्च मेयाभत्वम् प्रपद्यते॥

—पंचदशी, परिच्छेद ४, श्लोक ३०

वस्तुरूप के गोचर होते ही प्रमातृचैतन्य से अन्तःकरणवृत्ति उत्पन्न हो कर प्रमेय या वस्तुरूप पर अधिकार कर लेती हैं; तब वह अन्तःकरण, प्रमेय जो वस्तुरूप है उसमें संगत हो कर तदाकार में परिणत होती है अर्थात् मन वस्तुरूप धारण करता है और वस्तुरूप मनोमय हो उठता है। हम देखते हैं कि एक ओर हमारी अन्तरिन्द्रियाँ और बहिरिन्द्रियाँ और एक ओर अन्तर्वाह्य दो-दो वस्तुरूप हैं; इन दोनों के बीच प्रमातृचैतन्य मानो मानदण्ड या मेरुदण्ड है। पूर्वा परौ तोयनिधीवगाह्य। इस मानदण्ड को हम शैशव से नाना वस्तुओं में प्रयोग करते करते ऊँचे-नीचे, दूर-निकट, सफेद-काला, जल-स्थल इत्यादि के भेदाभेद ज्ञान को प्राप्त करते हैं और नित्य व्यवहार के द्वारा इसे हम प्रखरतर बना डालते हैं। कृपाण को अधिक दिनों तक इस्तेमाल में नहीं लाने से उसमें जंग लग जाता है, वह बेकार हो जाता है, उसी तरह प्रमातृचैतन्य से काम न लेने से अपना पैनापन खो कर वह निष्प्रभ बना रहता है। बिल्ली का बच्चा चूहा पकड़ने चला है, लेकिन उसकी प्रमा नाना वस्तुओं पर प्रयोग के द्वारा अभी सुतीक्ष्ण नहीं हो पाई है। इसीलिए वह पग-पग पर भूल कर रहा है—शिकार की दूरी के बारे में और अपनी कूदने की हालत के झटके के बारे में।

मानवशिशु की चित्रित वस्तुओं में भी हम इस प्रमा-प्रयोग के तारतम्य को देखते हैं। मान लो दो लड़कों ने एक हाथी की तसवीर बनाई है; यूँ हाथी की आकृति के बारे में दोनों की ही प्रमा ने ठीक अन्दाज लगाया है—दोनों ने ही सूँड़, पूंछ और ढोल जैसे पेट को देखा है, लेकिन पैरों के मामले में किसी ने दो देखा है किसी ने चार। दाँतों के बारे में भी यही बात है—एक ने देखा है एक दाँत, दूसरे ने देखा है दो दाँत, किसी ने दाँत बिलकुल ही नहीं देखा है। पैरों की

बनावट के बारे में भी देख रहा हूँ कि एक बच्चे ने प्रमा का काफी प्रयोग करके दो पैर बनाये हैं लेकिन दोनों पैरों को स्तम्भाकृति दी है; दूसरे ने चार पैर बनाये हैं—पैरों की संख्या के बारे में प्रमा का प्रयोग करके—लेकिन पैरों की बनावट के बारे में वह बिलकुल अन्धा रह गया है और चार तीलियाँ बना कर हाथी के पैर बताना चाह रहा है! भिन्न-भिन्न चित्रकारों के चित्रों में भी प्रमा प्रयोग का इसी प्रकार तारतम्य दिखाई पड़ता है। प्रमा को सर्वदा जाग्रत रखना ही षडंग की दूसरी साधना है। मकड़ी की तरह चारों ओर प्रमा जाल फैला कर खुद बीच में बैठा हूँ और वस्तुओं के निकट आकर जाल में पड़ते ही उनके बारे में सारी ठीक-ठीक खबरें पलक मारते मेरे पास पहुँच रही हैं।

३. भाव

भावः—आकृति की भाव-भंगिमा, स्वभाव तथा मनोभाव इत्यादि एवं व्यंग्य।

शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणाम् विधायकाः।
भाव विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः।

शरीर और इन्द्रिय सभी का विकार-विधायक भाव है; विभावजनित चित्त वृत्ति भाव है। निर्विकारात्मक चित्ते भावः प्रथम विक्रिया। निर्विकार चित्त में भाव ही प्रथम विक्रिया [Movement] प्रदान करता है।

चित्त स्वभावतः स्थिर रहना चाह रहा है—मिट्टी के बर्तन में इस थोड़े से जल की तरह। वह स्वभावतः निर्विकार है; विशाल झील की तरह वह स्वच्छ है; उसका अपना कोई वर्ण नहीं है या चंचलता नहीं है; भाव ही उसे वर्ण दे रहा है, चंचलता दे रहा है।

कब सबेरे वसन्त की हवा बही है, आकाश के किस कोने में वर्षा का गड़गड़ मृदंग बजा है, किस दिन शरत् का अमल धवल बादल दिखाई पड़ा है, जाड़े की कँपकँपी उत्तर की साँस के साथ आ पहुँची है, और वैसे ही इस चित्त हृद का जल चंचल हो उठा है! यह भाव उत्तमाधम-निर्विचार केवल मनुष्यों के चित्त में विकार पैदा कर रहा है ऐसी बात नहीं है; भावावेश में पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष-लता सभी रोमांचित हो रहे हैं, हिल डुल रहे हैं, उन्मत्त हो रहे हैं।

इस भाव के काम को हम आँखों से पकड़ सकते हैं। जैसे आकृति की नाना भंगिमा में। वसन्त के नये फूल, हरे पत्तों के वर्ण के उत्कर्ष में और उनकी सजीव भंगिमा में, आँधी के दिनों में पेड़ों के झुक जाने, सो जाने की भंगिमा में और समुद्र के ताण्डव-आस्फालन में; तुम्हारे गालों पर हाथ रख कर बैठने में, आँखों पर आँचल डाल कर रोने में, तुम्हारे अस्त व्यस्त वेष की भंगिमा में, तुम्हारे झपट कर चलने और बैठे रहने में, तुम्हारी पलकों के झुकने में, तुम्हारे अधर के किंचित कम्पन में, भौं के सामान्य कुंचन में, हाथ को हाथ पर रखने, हाथ को गाल पर रखने की भंगिमा में।

आँखों से हम भाव को देखते हैं और भंगिमा के द्वारा दिखाते हैं—त्रिभंग, समभंग अतिभंग और शास्त्रसम्मत और अनगिनत शास्त्र के बाहर और सृष्टि के बाहर की भंगिमाओं से। लेकिन भाव की व्यंजना या गूढ़ भाव को हम केवल मन से अनुभव कर सकते हैं; कोयल का कंठ किस चीज को बता रहा है, जाड़े के कुहरे ने किसे ढक रखा है, शरत के बादलों के रथ किसे ले जा रहे हैं, मेरे अन्दर किसकी वेदना बाहर के वसन्त के सारे आनन्द के वर्ण-वर्ण में दुख की कालिमा पोत रही है, किसका आनन्द अन्धकार में आलोक प्रदान कर रहा है—उसे देखना आँखों के बूते की बात नहीं है, यह मन के आयत्ताधीन है। अतएव केवल आँखों से भाव को काम की जो भंगिमा दिखाई पड़ रही है सिर्फ उसी को चित्रित करके हम निश्शान्त नहीं हो पा रहे हैं; क्योंकि इस रूप में भाव की व्यंजना का पक्ष बिलकुल छूटा जा रहा है। चित्र के केवल स्फुट पक्ष को अर्थात् भंगिमा के पक्ष को दिखाने से काम नहीं चलता, चित्र असम्पूर्ण रह जाता है—इंगित के अभाव में व्यंग्य के अभाव में। शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यन्त्ववरम् स्मृतम्। व्यंग्य के अभाव में शब्दचित्र, वाच्यचित्र यहाँ तक कि लिखित चित्र भी अनुत्तम हो जाते हैं। इदमुत्तम-मतिशयिनि व्यंग्ये। चित्र मात्र ही व्यंग्य के रहने पर उत्तम होते हैं।

अतएव देखता हूँ कि भाव दोमुँहा साँप है। उसके एक मुँह को आँखों से देख रहा हूँ और भंगिमा से दिखा रहा हूँ—रेखा की भंगिमा, वर्ण की भंगिमा, आवृति की नाना भंगिमा से। लेकिन साँप के दूसरे मुँह को देख रहा हूँ कि वह व्यंग्य और गूढ़ता में प्रच्छन्न है। अँधेरी रात में पेड़ के नीचे छाया की माया की तरह वह दिखाई भी पड़ रहा है, और दिखाई नही भी पड़ रहा है! इसीलिए चित्र बनाते समय कितना दिखाऊँगा जिस तरह इसे सोचना होगा उसी तरह कितना नहीं दिखाऊँगा इस पर भी विचार करना होगा।

भाव की प्रच्छन्नता को कैसे समझाऊँगा? जो प्रच्छन्न है उसे खोल कर दिखाने से तो वह प्रच्छन्न नहीं रह जाता। छाया पर आतप का प्रयोग कर के छाया को नहीं दिखा सकता हूँ—आतप पाने से तो वह दूर भाग जाती है। इसीलिए देखता हूँ कि छाया दिखाने के लिए जिस तरह हम आतप के सम्मुख किसी चीज की ओट में रख कर—जैसे पेड़ या हाथ—दिखाता हूँ, 'यह छाया है', उसी तरह चित्र में हम व्यंजना देते हैं जो प्रच्छन्न हैं उसको और जो स्फुट है इन दोनों के बीच किसी चीज की ओट डाल कर।

झोपड़े का आधा चित्रित किया, बाकी आधे को पेड़ की ओट में ढक दिया। झोपड़े के चित्रित अंश में उसकी भंगिमा या उसके भाव के प्रकाश के पक्ष को हमें दिखाया; और पेड़ की ओट में ढके झोपड़े के प्रच्छन्न हिस्से ने इशारे से बताना शुरू किया, उसके भीतर का भाव, झोपड़े में रहनेवालों की नाना लीलाएँ। उधर हमलोग नाना अलिखिति वस्तुओं की कल्पना कर ले सकते हैं।

मन कैसा कैसा कर रहा है, अतएव आँखों को सभी चीजें कैसी कैसी लग रही हैं। इस भाव को कविता में खोल कर लिखने से काव्य नहीं बनता है; वहाँ कवि को बगैर खोले कहना पड़ रहा है—

स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः।
सैवेयमवला किन्तु मनोहन्यदिव दृश्यते॥

वही तो वसन्त है; वही तो मलयानिल है, वही तो यह प्रेयसी है! लेकिन मन कैसा कैसा कर रहा है, सभी चीजों को कैसी कैसी देख रहा हूँ! कैसी देख रहा हूँ उसे खोलकर नहीं कह पा रहा हूँ।

भावभंगिमा या बाहर के पक्ष को चित्र के रेखावर्ण इत्यादि से खोलकर बताया जा सकता है, लेकिन भाव के व्यंग्य के पक्ष को या अन्तर के पक्ष को अस्पष्टता में ढ़ाँक कर दिखाने के सिवा चारा नहीं है।

टान से जो प्रकट नहीं होता, टोन से वह प्रकट होता है। 'बेला गयी पार नहीं जाओगे!' यह बात क्या चित्र में प्रकट हुई? कुछ भी नहीं हुई। लेकिन इन बातों का टोन ही लालाबाबू को संसार के उस पार बहा ले गया। इस टोन को ही व्यंग्य कहते हैं।

चित्र में भंगिमा द्वारा भाव प्रकट करना सहज है; लेकिन चित्रित के अन्दर व्यंग्य देना आसान काम नहीं है। यह जलपात्र अगर कंगाल का है तो इसे समझाने के लिए जलपात्र की आकृतिमात्र बना कर निश्चिन्त नहीं हो सकते, क्योंकि इस तरह के जलपात्र बहुतेरे धनियों के घर में भी हैं। माना कि चित्रित कर दिखाया कि जल पात्र मैला है और कई जगह फूटा है; लेकिन इतना कह कर कैसे समझाऊँ कि यह कंगाल की बहुत बड़ी चीज है। लगता है कि कंगाल को जलपात्र के बगल में बैठा दूँ तो सारा बखेड़ा दूर हो जाय। लेकिन ऐसा कर देखो तो पता चलेगा कि चित्र ही 'कंगाल' हो गया है; 'कंगाल का जलपात्र'—यह चित्र नहीं रहा! ऐसे मौके पर कंगाल के जीवन का थोड़ा सा इशारा या व्यंग्य—जैसे उसकी फटी गुदड़ी का एक हिस्सा या भीख की झोली से अथवा किसी दूसरे सूक्ष्मतर इशारे की सहायता से जलपात्र की शून्यता और कंगाल-जीवन की रिक्तता प्रकट करके मुझे चित्र में कंगाल के जलपात्र के व्यंग्य को समझा देना पड़ता है। इस व्यंग्य को जो चित्रकार जितने सुचारु रूप से प्रकट करता है वह उतना ही अधिक गुणी है।

एक बार एक जापानी सम्राट ने चित्रकारों की इस व्यंग्य प्रयोग शक्ति की परीक्षा ली थी। सभी चित्रकारों को एक कविता की एक पंक्ति चित्रित करने के लिए दी गयी, जैसे: वसंत के पुष्पित खेतों के ऊपर से विजयी वीर को घोड़ा ले आया है। नाना चित्रकारों ने नाना प्रकार से इस कविता को चित्रित कर दिखाया, लेकिन सम्राट ने किसी को पुरस्कार नहीं दिया; पुरस्कार मिला उस चित्रकार को जिसने धूल धूसरित घोड़े के पास एक तितली बना कर इशारे से बताया —घोड़े के खुरों से लगे नाना पुष्प रसों के अंतिम सौरभ को!

फूल में जैसे सौरभ होता है उसी तरह चित्र में व्यंजना होती है। रूप है, भावभंगिमा है, प्रमाणादि सब कुछ हैं लेकिन व्यंजना नहीं है, सौरभ नहीं है तो वह मानो सुगंधिहीन फूलों की माला है। ऐसे व्यंजनाविहीन चित्र कुछ भी नहीं हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह उत्तम चित्र है, क्योंकि वह 'अव्यंग्य' अतएव 'अवर' है। केवल भाव की

भंगिमा को दे कर ही तूलिका रख देने से दर्शक का मन चित्र पर नहीं रीझता है। चित्र की भाव-भंगिमा हो सकता है कि हमारे मन को उस समय भर के लिये रुला कर या आनन्द दे कर छोड़ देती है, लेकिन मन चित्र में बस कर नये नये भावरसों को पा कर मुग्ध नहीं होता। यहाँ तक कि ऐसे चित्रों को बार बार देखते देखते मन का ऊब उठना संभव है। व्यंग्य इस ऊबने के हाथ से चित्र को और भाव को बचाता है, उसे पुराना नहीं होने देता, उसे नयी नयी दिशाओं से हमारे सामने पेश करता है। भाव का काम है रूप को भंगिमा देना। और रूप की ओट में मानो भाव के इशारे को अवगुंठित रूप से प्रकट करना ही व्यंग्य का काम है।

४. लावण्ययोजना

जैसे यथोपयुक्त और यथायथ मनोहर एक सीमा में ला कर प्रमाण जैसे रूप को परिमिति देता है उसी तरह लावण्य परिमिति देता है—भाव के कार्य को या भंगिमा को अद्‌भुत और उच्छृंखल भंगिमा के हाथों से बचा कर। भाव की ताड़ना से भंगिमा दौड़ी जा रही है, मतवाले घोड़े की तरह असंयत, उद्दाम, असहिष्णु, यहाँ तक कि अशोभन तौर से अपने को प्रमाण की सीमा से विच्छिन्न करके; लावण्य आ कर उसे शांत कर रहा है अपने मधुर कोमल स्पर्श को धीरे-धीरे उसके सारे बदन पर फेर कर। भाव की ताड़ना से रूप जब शकुन्तला-प्रत्याख्यान के समय दुर्वासा ऋषि की तरह अपरिमित तौर से हाथ पैर हिला डुला कर, दाँत किटकिटा कर उद्दंड भंगिमा में खड़ा देख रहा है, तभी हमारा लावण्य उसके पास आकर कह रहा है, 'स्थिरो भव'! पागल बन रहे हो!'

प्रमाण के बंधन में जितनी कठोरता है, लावण्य के बंधन में उतनी भी नहीं है; लेकिन वह भी बंधन है : एक सुनिश्चित सुन्दर सुकुमार बंधन। वह प्रमाण की तरह जोर से लगाम खींच कर गर्दन टेढ़ी नहीं कर देता है, लेकिन उसके स्पर्श से घोड़ा अपने आप गर्दन फेर लेता है और कदम चलता है। प्रमाण मानों मास्टर है, बेंत मार कर बलपूर्वक लड़के को सीधा कर रहा है; और लावण्य मानों माँ है नाना प्रकार से लड़के को समझा कर यथेच्छाचार से निवृत्त कर रही है।

रुचि जैसे रूप को दीप्ति देती है, लावण्य उसी तरह भाव को दीप्ति देता है।

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

—उज्जवलनीलमणि

मोती के रूप की भंगिमा निष्प्रभ होती है, अगर उसमें लावण्य की दीप्ति न हो। उसी प्रकार चित्र के रूप प्रमाण और भाव सभी निष्प्रभ हैं, अगर इन तीनों में लावण्य आ कर दीप्ति प्रदान नहीं करता है।

चित्र की सारी भाव भंगिमा में लावण्य एक शीतलता शोभनता प्रदान करके चित्र को नयनाभिराम और मनोहर बना देता है। नमक के न रहने से भोजन का स्वाद जैसे फीका पड़ जाता

है उसी प्रकार लावण्य के न रहने से चित्र के रसास्वादन में बाधा पैदा होती है। अतएव लावण्य के परिमाण को सुगृहिणी की तरह चित्रकार को समझ बूझ कर—संक्षेप में प्रमा द्वारा परिमिति दे कर—प्रयोग करना पड़ता है। अतिरिक्त लावण्य से चित्र की भाव भंगिमा कड़वी हो जाती है, बहुत कम लावण्य से वह फीकी हो जाती है।

लावण्य चित्रण सर्वदा शुचि और संयत है। वे भावादि से युक्त हो रही हैं सही में; लेकिन हमेशा अपने स्वातंत्र्य को कायम रख कर। लावण्य मानो कसौटी पर सोने की रेखा है या पहिनने की साड़ी पर सुनहली किनारी!

लावण्य पत्थर को अपनी सुनिश्चित रेखा से अंकित कर रही है, पूरे पट पर अपनी दीप्ति सुनिश्चित सूक्ष्म रेखा से बना रहा है; लेकिन कह रहा है कि, पत्थर, तुम भी और मैं भी रहूँ तुम्हारी थोड़ी-सी जगह घेर कर—कपड़े, तुम भी रहो मैं भी रहूँ, तुम्हारे एक छोर पर थोड़ी सी जगह दखल करके! लावण्य चित्र के अन्दर सब से अधिक काम करता है लेकिन उनका आडम्बर सब से कम होता है। लावण्य खुद शुद्ध और संयत है अतएव वह जिसको भी स्पर्श करता है उसी को विशुद्धता और संयम देता है।

५. सादृश्य

घर के कोने में बैठी बुढ़िया चर्खा चला रही है और गा रही है—

चर्खा मेरा पूत, चर्खा मेरा नाती।
चर्खे की दौलत से मेरे द्वार बंधा हाथी॥

बुढ़िया का चर्खा उसके नाती या हाथी या पूत की तरह है यह बात नहीं; बुढ़िया के इस दृष्टिकोण का कारण है चर्खे से अपने परिवार और अपने मनोभाव का हाथी खरीदने वगैरह का अभिन्न संबंध। अतएव हम देखते हैं कि रूप रूप में समानता की अपेक्षा सादृश्य के लिए भाव भाव में संबंध अधिक प्रयोजनीय होता है। सदृश्यस्य भाव इति सादृश्य। एक का भाव जब दूसरे का उद्रेक कर रहा है तभी सादृश्य होता है। चर्खा अगर किसी तरह नाती बन कर बुढ़िया के सम्मुख उपस्थित होता जैसा इटालियन चित्रकार के अंगूर के गुच्छे चिड़िया को दिखलाई पड़े थे—तो शायद बुढ़िया धोखा खाती, लेकिन जिस दिन वह अपने भ्रम को समझ पाती उस दिन चर्खे की एक भी तीली को साबित नहीं छोड़ती।

सादृश्य का अर्थ है चतुराई की सहायता से रूप का प्रतिरूप बना कर, सोले का साँप बना कर, लोगों को डराना नहीं, धोखे में डालना नहीं; लेकिन किसी रूप के भाव को किसी दूसरे रूप की सहायता से हमारे मन में पैदा कर देना—तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोःधर्मवत्वम्। एक वस्तु दूसरी वस्तु का भाव उत्पन्न करती है—दोनों की आकृति में भिन्नता होते हुए भी अगर एक जगह दोनों में बराबरी है तो उस जगह दोनों का अपना अपना धर्म है। आकृति में बराबरी होने के कारण ही वेणी से सर्प का सादृश्य दिया जा रहा है सही में, लेकिन वेणी की जगह साँप की

या साँप की जगह वेणी को रख कर दोनों के अपने धर्म पर आघात किया है और सादृश्य को तोड़ा है। सिर से लटकना साँप का धर्म नहीं है, सिर पर काटना ही उसका धर्म है। पेड़ के नीचे पड़ी रह कर बेजान साँप की तरह डर दिखाना वेणी का धर्म नहीं है। दूसरी ओर देखता हूँ चँवर का धर्म है गात से लटके रहना, केश का धर्म भी यही है, इनमें अपने अपने धर्म में भी समानता है। इसीलिए अगर एक दूसरे का स्थान ले लेता है तो भी सादृश्य को अधिक क्षति नहीं पहुँचाता। चँवर भी केश की ही तरह होता है। आकृति का सादृश्य और दोनों के अपने अपने धर्म में भी सादृश्य उतना सुलभ नहीं है, इसलिए सादृश्य दिखाते समय वस्तु के आकृति की अपेक्षा प्रकृति या स्वधर्म के पक्ष का सादृश्य दिखाना ही अच्छा है।

कविता कवि के मनोभाव के सादृश्य को ग्रहणकर पाठक या श्रोता के मनोभाव को तत्सादृश्य बना देती है। अतएव कवि निडर हो कर 'मुखचन्द्र' कह सकता है। चन्द्र और मुख में वहाँ कवि आकृति का सादृश्य नहीं दिखा रहा है, दिखा रहा है चन्द्रोदय से होने पर अपने मनोभाव से प्रियमुखदर्शन करने पर प्रेमी के मनोभाव का सादृश्य। इसीलिए कहना पड़ता है कि वही सादृश्य उत्तम है जो किसी एक रूप की व्यंजना को किसी दूसरे रूप के द्वारा व्यक्त करता है। मनोभाव का सादृश्य होना ही सादृश्य है।

मुषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते यथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवं॥

—पंचदशी, द्वैतविवेक।

मनोभाव रूप के और रूप मनोभाव के छन्द या साँचे में पड़ कर दोनों दोनों का सादृश्य प्राप्त हो रहे हैं। कवि जब कमल से चरणों का सादृश्य बता रहा है तब वह चरण और कमल की आकृति के सादृश्य को चूर्ण करके अपने मनोभाव को ही कमल की तरह रचना के छन्द में बाँध कर हमारे सामने उपस्थिति कर रहा है क्योंकि केवल रूप सादृश्य को लेकर चित्रित किया जाय तो रचना मनोभाव के सादृश्य किसी भी दशा में नहीं होती। चित्रकार भी देख रहा है कि चरण को कमल की आकृति दे कर वह, न चरण, न कमल, दोनों में एक को भी समझा नहीं पा रहा है; इसीलिए वह कमल को चरण के लगभग पादपीठ के रूप में दिखा कर अपने मनोभाव के सादृश्य बना कर मूर्ति के चरणकमल बना रहा है।

मन में जो सुर बज रहा है उसी का अनुरणन जब बीणा की झंकार और मूर्छना आदि से व्यक्त कर रहा हूँ तभी बाहर के बजाने और अन्तर की वेदना में सादृश्य दिखा रहा हूँ। चित्र में भी उसी तरह सैकड़ों हजारों रेखाएँ होती हैं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्ण भेदादि जब मानसमूर्ति के सदृश अंकित कर रहा है तभी यथार्थ सादृश्य दे रहा है। इसीलिए कहना पड़ता है कि भाव का अनुरणन जो कुछ देता है वह उत्तम सादृश्य है, और केवल आकृति या रूप का अनुकरण जो कुछ देता है वह अधम सादृश्य है। अनुकृति या अधम सादृश्य कीड़े मकोड़े नाना तुच्छ जीवों को अवलम्बन

करते देखा जाता है, आकृति गोपन करने की चेष्टा में। अतएव इस तरह का सादृश्य चित्रित को स्पष्ट नहीं करता है, बल्कि बहुधा उसको लुप्त कर देता है।

६. वर्णिकाभंग

वर्णिकाभंग——नाना वर्णों की सामिश्रण भंगिमा और भाव, वर्णवर्तिका की खींच तान की भंगिमा, आदि।

वर्णज्ञान और वर्णिकाभंग षडंग-साधना की चरम साधना और सब से अधिक कठोर साधना है। महादेव पार्वती से कह रहे हैं : वर्णज्ञानं यदा नास्ति किं तस्य जपपूजनैः। अगर वर्ण-ज्ञान नहीं पैदा हुआ, अगर वर्णिकाभंग—उस पतली सी तीली की खींच तान, पर अधिकार नहीं जन्मा तो षड़ंग की पाँचों साधनाएँ व्यर्थ हैं। अगर तुम्हारे अन्दर वर्णज्ञान नहीं पैदा हुआ तो सफेद कागज, सफेद कागज ही रह जायगा; तुम्हारे हाथ की तूलिका सफेद कागज पर नाना रंगों की रेखाएँ खींचेगी या छोटे छोटे अक्षरों की तरह कुछ लिखेंगी, अगर वर्णिकाभंग पर तुम्हारा अधि-कार नहीं होता है। षड़ंग के बाकी पाँचों अंगों पर सफेद कागज पर एक भी रेखा खींचे बगैर साधना पैदा हो सकती है! रूप के भेदाभेद को तुम आँखों के मन से समझ सकते हो, प्रमाण पर तुम बगैर तूलिका के ही अधिकार प्राप्त कर सकते हो; भाव लावण्य सादृश्य को भी आँखों से देख कर, मन में समझ कर जान सकते हो; लेकिन वर्णिकाभंग को तुम्हें अपनी तूलिका से पकड़ना ही होगा। यह जो सफेद कागज है जिसे तुम चाहो तो सैकड़ों टुकड़े कर सकते हो, तूलिका के छोर पर थोड़ी सी स्याही लेकर उसे छूने में हम इतना क्यों डरते हैं? चित्रित करने के इरादे से जब अपने सामने सफेद कागज फैलाया तब वह सफेद कागज नहीं रहा। तब वह मेरी आत्मा का दर्पण बन गया। बीज में जिस तरह पूरा पेड़ छिपा रहता है, उसी तरह उस सफेद कागज में सारे रूप, सारे प्रमाण, सारे भाव लावण्य और वर्ण भंगिमा को लेकर अपनी आत्मा को प्रतिविम्बित देखता हूँ। इसीलिए सहसा उसे तूलिका से छूने में डर लगता है, हाथ काँपने लगता है। पट पर यह श्रद्धा, यह सम्मान चित्रकर को चिरकाल अनुभव करना चाहिए। लेकिन तूलिका पकड़ने पर हाथ काँप रहा ह, इस डर को भी मन से दूर करना होगा। हाथ जरा भी नहीं कांपे तूलिका मेरी अनिच्छा से बाल भर भी न तो आगे बढ़ेगी और न पीछे हटेगी बायें दाहिनें रंचमात्र भी नहीं सरकेगी। वर्णिकाभंग की यही सबसे कठिन साधना है। कागज के निकट तूलिका को ले जाने मात्र से ही चुम्बक की तरह कागज मानों तूलिका को खींच रहा है किसी भी तरह रोक नहीं पा रहा हूँ; हाथ मानों भयंकर ज्वर से काँप रहे हैं, सँभाल में नहीं आ रहे हैं। इस हाथ और साथ ही साथ तूलिका को वश में लाना ही मुख्य कार्य है। इतना हो जाने पर बाकी काम सहज है।

सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च।
एते स्वभावजा वर्णा...
संयोगजा पुनस्त्वन्ये उपवर्णा भवन्ति हि॥

सफेद, लाल, नीला, पीला, ये चार स्वभावज वर्ण हैं इन चारों की मिलावट से नाना उपवर्णों की सृष्टि होती है। इतना सीखने में, या जैसे —

सितपीतसमायोगः पाण्डुवर्ण इति स्मृतः।
सितरक्तसमायोगः पद्मवर्ण इति स्मृतः॥
सितनीलसमायोगः कापोतो नाम जायते॥
पीतनीलसमायोगात् हरितो नाम जायते॥
नीलरक्तसमायोगात् काषायो नाम जायते।
रक्तपीतसमायोगात् गौरइत्यभिधीयते॥
एते संयोगजावर्णाह्य पवर्णास्तथा परे।
त्रिचतुर्वर्णसंयुक्ता बहवः परिकीर्तिताः॥...
दुर्बलस्य च भागौ द्वौ नीलवर्णावृते भवेत्॥
नीलस्यैको भवेद्भागश्चत्वारो अन्यस्य तु स्मृताः।
वर्णस्यतु बलीयस्त्वं नीलस्यैवं हि कीर्त्यते॥

नाट्यशास्त्र, २१ अध्याय, श्लोक ६०-६५

सफेद और पीले से पाण्डु वर्ण, लाल और सफेद से पद्म वर्ण, नील और सफेद से कपोत वर्ण, पीले नीले से हरा, लाल और नील से काषाय, पीले और लाल से गौर—इतना सीखने या तीन चार वर्णों के मिलाने से बहुतेरे उपवर्ण बनते हैं, सबल वर्ण, अपेक्षाकृत दुर्बल वर्णों से दूने समझे जाते हैं, केवल नील वर्ण दूसरे वर्णों से चौगुना बलवान और सभी वर्णों से बली होता है, इन सहज बातों को कंठस्थ और काम में प्रयोग करके सीख लेने में अधिक समय नहीं लगता। लेकिन अपने हाथ को अपने वश में लाना ही कठिन बात है।

जो लोग तलवार चलाना सीखते हैं वे जानते हैं कि लोहे के छड़ और हाथी के सिर को काटना कितना सहज है लेकिन हवा में एक रूमाल उड़ा कर उसके टुकड़े टुकड़े करने के लिए हाथ और तलवार की चोट के लिए कितनी आश्चर्यजनक लघुता और क्षिप्रता की आवश्यकता पड़ती है !

आँख की पुतली, जिसके रंचमात्र विचलित होने से, भरे गालों की रेखा जिसके बाल इधर उधर होने से, लतातन्तु से भी सूक्ष्म हँसी की रेखा जिसके जरा भी काँप जाने से सब कुछ नष्ट हो जाता है, तूलिका के छोर से उन्हें आकृति करके दिखाने के लिए हाथ की न जाने कितनी क्षिप्रता, स्पर्श की न जाने कितनी लघुता की जरूरत पड़ती है। वर्णिकाभंग के वर्ण परिचय में पहला पाठ दूसरा पाठ नहीं है, उसमें केवल एक ही पाठ है, वह है लघुपाठ या हस्तलाघवता।

हाथ तूलिका को लुढ़काए लिये जा रहा है, हाथ तूलिका से छुरे की धार की तरह मानो कागज को काटता जा रहा है, हाथ छूता ह या नहीं, छूता है इस तरह से कि तूलिका को कागज पर उड़ाये लिये जा रहा है, यही हमारे लघुपाठ का पाठ्य और वर्णिकाभंग का सारांश है।

दफ्तरी रेखा को बिलकुल सीधी खींच रहा है। लेकिन किसी से हम यह नहीं कह सकते हैं कि दफ्तरी वर्णिकाभंग में दक्ष हो गया है या वह जिस रेखा को खींच रहा है वह चित्रकार की रेखा की तरह जीती जागती रेखा है। क्योंकि दफ्तरी जीवन को उड़ेल कर रेखा को नहीं खींच रहा है, वह हाथ से खींच रहा है। कल का रूल जो काम कर रहा है, दफ्तरी का हाथ भी वही काम कर रहा है। दफ्तरी को चित्रकार की खींची रेखा खींचने के लिए कही तो देखोगे कि उसका हाथ बिलकुल निर्जीव है। चित्रकर और दफ्तरी की रेखाओं में यह अन्तर है कि एक जीती जागती रेखा है और दूसरी निर्जीव रेखा है। चित्रकार के प्राणों का छंद एक ही रेखा को कभी लुढ़का कर, कही काट कर बैठा कर, कहीं छू रहा है—या नहीं छू रहा है, इस तरह से उड़ाये लिये जा रहा है। सिर से ठुड्डी तक मुंह के एक ओर की रेखाओं को खींचने की कोशिश करो, देखोगे कि तूलिका के तीन प्रकार के भंग, भंगिमा या स्पर्श तुम्हें प्रयोग करने होंगे: सिर की हड्डी मजबूत होती है, वहां तुम्हें तूलिका की दृढ़ता से—गाल कोमल होता है, वहां तूलिका को लुढ़का कर कोमलता से—नातिदृढ़ ठुड्डी के पास कोमल कठोर मिला कर रेखा को खींचना होगा। एक ही रेखा को कठोर कोमल और अति कोमल, एक ही खींचने को स्थिर और विगलित और स्थिर विगलित दिखाना, और वर्णों के सम्बन्ध में दृष्टि की तीक्ष्णता और वर्णवर्तिका प्रयोग के सम्बन्ध में हस्त-लाघवता ही वर्णिकाभंग की सारी शिक्षा ह।

तूलिका को कितना भिगाऊँगा उसके छोर पर कितना रंग रहेगा और झाड़ दूँगा और उस रंग समेत भीगी तूलिका को कितना दबाऊँगा या कितना नहीं दबा कर कागज पर चलाऊँगा—इसी के बारे में प्रमा प्राप्त करना ही षड़ंग के वार्णिकाभंग की आन्तिम शिक्षा या चरम शिक्षा है। चित्र में मन के रंग को चित्रित करना मन के अन्धकार को घना बनाना, मन के आलोक को उज्ज्वल बनाना, और मन के षड़ऋतुओं की विचित्र छटा को प्रकट करना ही वर्णिकाभंग का वर्णज्ञान है

केवल अक्षरों अथवा रेखाओं अथवा वर्णों के रूप को जानना ही वर्णज्ञान नहीं है, केवल एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण के सम्मिश्रण से नाना उपवर्णों को बनाना भी नहीं है, लेकिन वर्ण का तत्व और रूप दोनों को जानना ही ज्ञान है।

तन्त्रशास्त्र में अक्षर और रेखाओं की एक-एक आत्मा और एक-एक विशेष वर्ण दिया गया है, जैसे—

आकारं परमाश्चर्यं शंखज्योतिमयं...
ब्रह्माविष्णुमयं वर्णं तथा रुद्रः स्वयं।

ब्रह्माविष्णु-आत्मक और शंखज्योतिर्मय-परमाश्चर्य जो 'आ' अक्षर है वह स्वयं रुद्र है। गायत्रीतन्त्र और गायत्री के एक-एक अक्षर को इसी प्रकार आत्मावान कहा गया है—

गायत्र्या प्रथमं वर्णं पीतचम्पकसन्निभं।
अग्निना पूजितं वर्णं आग्नेयं परिकीर्तितम्॥

गायत्री का प्रथम वर्ण चम्पा की तरह पीला है, वह अग्नि से अर्चित (होता है), इसलिए

आग्नेय है। स्याही से रेखा को खींच रहा हूँ लेकिन मन में सोच रहा हूँ कि इस तूलिका के अक्षरों में कोई श्याम, कोई कपिल, कोई इन्द्रनीलाभ है। केवल यही नहीं—कोई अक्षर अग्नि की तरह दुर्धर्ष है, कोई नील आकाश की तरह स्निग्ध है, आदि।

नाटयशास्त्र में कहा गया है—

वर्णानाम् तु विधिम् ज्ञात्वा तथा प्रकृतिमेवच कुर्यादंगस्य रचनाम्।

वर्ण की विधि और प्रकृति—अर्थात् कौन वर्ण आकृति को गोपन रखता है, कौन उसे चित्रित करता है इसकी विधियों; कौन वर्ण आनन्दित करता है, कौन विषादित करता है, किससे वैराग्य का बोध होता है, कौन अनुराग सूचित करता है आदि वर्णों की प्रकृति—समझ कर तब अंग बनाना।

कहते हैं; स्याही कलम मन, लिखें तीन जन। मन कहाँ छिपा बैठा, काले पर आलोक, और आलोक पर काले को खींच रहा है और वैसे ही हाथ समेत तूलिका उस आलोक के कम्पन से नाच उठ रही है, काले के वर्ण से रंगीन हो उठ रही है! आंखों को वर्ण का ज्ञान नहीं हो रहा है, हो रहा है मन का। हाथ वर्णिकाभंग पर अधिकार नहीं कर पा रहे हैं, अधिकार हो रहा है मन का। वर्णज्ञान के बारे में आँखों पर विश्वास नहीं कर सकता, क्योंकि कितनी ही आँखें नीले को हरा, लाल को पीला देखती हैं। और एक मामूली पत्ते पर षड़ऋतुओं में क्षण क्षण पर हमारे सुख दुख के आलोक-कम्पन के अन्दर से जिस भाव का रंग प्रकट हो रहा है, लुप्त हो रहा है, नये से नये में, उसे भी पकड़ना आँखों का काम नहीं है। आँखें वसन्त ऋतु के सभी पत्तों में एक वसन्ती रंग देख रही हैं—नीलपीत समयोगात्। लेकिन वास्तव में वसन्त के रंग से हमारा मन रंगीन हो उठ रहा है। इसके अलावा षड़ऋतुएँ केवल वर्ण ही को ले कर तो हमारे पास नहीं आ रही हैं, वे वर्ण गन्ध-गान स्पर्श आदि सब कुछ से अपने को हमारे मन के सामने प्रकट कर रही हैं। इसी का वर्णन वर्णों का काम है। वर्ण केवल रंजित नहीं करता, वर्ण चित्र को वर्णित करता है, केवल फूलों का रंग ही नहीं, उसके सौरभ को भी; केवल सूर्य की किरणों के रंग को ही नहीं उसके उत्ताप के स्पर्श तक—सबेरे किस तरह, शाम को किस तरह, दोपहर को कितना—वर्ण से इन सबका वर्णन करना सीखना होगा।

दमयन्ती स्वयम्वर सभा का चित्र बना रहा हूँ—पञ्च नल को, दमयन्ती को, सभी सखियों और सभी राजाओं को बना कर सब पर फूल चन्दन धूपदीप की सुगन्ध वर्णों से प्रकट करना होगा! चित्र में वर्षा का वर्णन कर रहा हूँ—मोर बनाया, पेड़ बनाया, बादल की आकृति बनाई, अभिसारिका राधा को भी बनाया; केवल वर्ण नहीं दे सका, सब कुछ व्यर्थ हो गया! बादलों की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ी, पेड़ के नीचे सुरभित अन्धकार घना नहीं हुआ, भीगी मिट्टी के सोंधेपन से चित्र भर नहीं उठा—मन का अभिसार व्यर्थ हो गया!

आँखें वर्णों को नहीं मिलाती हैं, वर्णों को मिलता है मन। मन शरत् ऋतु के आसमान को कितना नील देख रहा है पर कितना उज्वल या म्लान देख रहा है उसी का वजन नील में मिलाना

ही वर्ण को भंगिमा देना है। मैं स्याही से भी शीत काल का आसमान दिखा सकता हूँ अगर मन के रंग को उस स्याही में ला कर मिला दूं। स्याही तब स्याही नहीं रहती अगर मन उसे अपने मन में रंग दे।

काली कैसी काली है?
दूर इसलिए काला है।
पहचान लेने पर काली नहीं रहता।

—श्री श्रीरामकृष्ण।

मन जब तक काली से अलग है, काली तब तक काली स्याही मात्र है। और मन जैसे ही आकर मिल गया वैसे ही काली अब काली नहीं है; वह षड़ंग के रंगों की डाली पर आलोक शिखा की तरह उज्वल हो उठी है।

षडङ्गदर्शन

रस, छन्द, रूप, प्रमाण, भाव, लावण्य, सादृश्य, वर्णिकाभंग—चित्र के सिर से पैर तक इन अष्टांगों को हमलोगों ने अब तक अपनी ओर से समझने और समझाने की चेष्टा की; अब चित्र के बारे में हमारे इन विधियों की प्रतिध्वनि और किसी प्राच्य शिल्प में मिलती है या नहीं देखना चाहिए। प्राच्य शिल्पों में जापान शिल्प अब दुनिया में सुविदित है और उसकी सारी विचारधारा प्राचीनतर चीन-शिल्प से अनुप्राणित है; अतएव उसी का अवलम्बन करके हमें आगे बढ़ना होगा।

पहले ही देखना चाहिए कि रस से हम क्या समझते हैं और जापान क्या समझता है। हमारे आलंकारिकों ने रस को कहा है; ब्रह्मस्वादमिव अनुभावयन्। मानो बृहत् के आस्वाद से सब कुछ को बड़ा बना रहा है जो महान आस्वाद है, वही रस है।

जापान इस रस को कहता है—Ki In....that indefinable something which in every great work suggests elevation of sentiment, nobility of soul.

—Bowie, On the Laws of Japanese Painting, p. 83.

काव्यप्रकाश-प्रणेता मम्मट ने रस को कहा है: स च न कार्यं नापि ज्ञाप्य। उनका मत है कि रस अपने को अनुभूत कराता है; पुरइव परिस्फुरण हृदयमिव प्रविशन्, सर्वांगीणामिव आलिगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्। जापान में भी Ki In अथवा रस के बारे में बावी साहब लिखते हैं—

From the earliest times the great art writers of China and Japan had declared that this quality....can neither be imparted nor acquired. [स च न कार्यं नापि ज्ञाप्य] It is.... akin to what the Romans meant by

'divinus afflatus', that divine and vital breath which vivifies....the work and renders it immortal. [हृदयमिव प्रविशन्]

—On the Laws of Japanese Painting, p. 43.

छन्द को हमारे कोशों में कहा गया है 'आह्लादयति इति', वह आह्लादित करता है, वह ह्लादिनीशक्ति है!

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयत सति विक्रियाः।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा॥
—पंचदशी, भूतविवेक, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक ५९

स्वभावतः वर्णहीन भित्ति में संगत हो कर, वर्ण भित्ति को जैसे नाना रूपों में चित्रित कर रहे हैं उसी प्रकार स्वभावतः निष्क्रिय जो सत् है, उसमें संगत हो कर शक्ति उन्हें विक्रिया (गति) दे रही है, इसीलिए देखता हूँ, जो ह्लादिनीशक्ति हैं वह एक ओर गति या मुक्ति है, दूसरी ओर स्थिति या बन्धन है—दोनों ओर के इन दोनों आलिंगनों से जो सत् है वह उन्हें हिला कर विक्रिया दे रहा है। ह्लादिन्या सम्विदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। सत् नामक जो वस्तु है वह स्वभावतः निष्क्रिय है वह ह्लादिनीशक्ति का सचेत आलिंगन पा कर चित् और आनन्द के रूप में नन्दित या छन्दित हो उठ रहा है।

जापान के शिल्पाचार्य ओकाकुरा ने चीन-षड़ंग के प्रथम अंग की जो व्याख्या की है वह इसी छन्द या ह्लादिनीशक्ति का ही बोध कराता है, जैसे—

Ch'i—yun Sheng Tung. The life-movement of the Spirit through the Rhythm of Things.....The great mood of the [सत्] universe moving hither and thither amidst the harmonic laws of matter [ह्लादिन्या सम्वित्] which are Rhythm.

—Okakura, Ideals of the East. p. 52.

Spirit या प्राण में संगत हो कर जो शक्ति विक्रिया (movement) पैदा करती है वही छन्द या ह्लादिनीशक्ति है। संक्षेप में कहा जा सकता है, छन्द या ह्लादिनीशक्ति प्राणो का स्पन्दन है—Life movement of the Spirit. इस छन्द को जापानी Sei do (छन्द) कहते हैं—

This is one of the marvellous secrets of Japanese painting handed down from the great Chinese painters and based on psychological principles —matter responsive to mind.

इस छन्द या ह्लादिनीशक्ति का प्रयोग चित्र में किस प्रकार से करना होगा—

Should he depict the sea-coast with its cliffs and moving waters, at the

moment of putting the wave-bound rocks into the picture he must feel that they are placed there to resist the fiercest movement of the Ocean, while to the waves in turn he must give an irresistible power to carry all before them; thus by this sentiment called living movement (Sei do) reality is imparted to the inanimate object.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 78.

चित्रकार के निकट (Sei do) या छन्द शक्ति का कार्य कभी इस प्रकार से पकड़ में आ रहा है, जैसे अन्दर से बाहर या मनोगत उसके द्वारा वस्तुरूप अनुरणित हो रहा है। जब पर्वत को चित्रित कर रहा हूँ तब पर्वत की दृढ़ता स्थिरता को मन में ला कर; संक्षेप में छन्द की स्थिति को ध्यान में रख कर, चित्रित कर रहा हूँ। और जब तरंगभंग बना रहा हूँ, तब स्थिति के विपरीत पक्ष को ही छन्द का जो गति का पक्ष है उसी को ध्यान में रख कर चित्रित कर रहा हूँ।

ब्रह्मादयाः स्तम्बपर्यन्ताः प्राणिनोहत्र जड़ा अपि।
उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत्॥

—पंचदशी, चित्रदीप, श्लोक ५

आब्रह्मस्तम्ब तक क्या जीव क्या जड़ उत्तमाधम रूप से सभी ने यथास्थान अधिकार कर रखा है, चित्रपट में नाना प्रकार की सामग्रियां जिस तरह से सजाई रहती हैं।

चीन-षड़ंग के पंचम अंग का जो अनुवाद फ्रांसीसी पं० पेत्रुचि और विलायत के बिनियन (Binyon) साहब ने दिया है वह पंचदशी के चित्रदीप के इस पाँचवें श्लोक की हूबहू प्रतिध्वनि है; जैसे—

Disposer les lignes et leur attribuer leur place hierarchique.

—Petrucci, La Philosophie de la Nature dans l'art de l'Extreme Orient, p. 89.

Composition and subordination, or grouping according to the hierarchy of things.

—L. Binyon, The Flight of the Dragon, p. 13.

हमारे ऋषियों ने कहा है कि रूप का धर्म है प्रतिविम्बित होना, कल्पित होना, छन्दित होना, और छायातप में प्रकट होना, जैसे—

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने यथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥

कठोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, तृतीय वल्ली, श्लोक ५

आत्मा में दर्पणस्थ प्रतिविम्ब की नाई, पितृलोक में स्वप्न में देखे की नाई, गन्धर्वलोक में मानो जल के कम्पन के ऊपर और हमारे इस ब्रह्मलोक में छाया और आतप इन दोनों के वैषम्य से।

'यथादर्शे तथात्मनि' इस भाव के ठीक अनुरूप भाव को व्यक्त कर रहा है जापान का Sha I, जैसे—

They paint what they feel rather than what they see, but they first see very distinctly. [आत्मा में प्रतिविम्वितवत्] It is the artistic impression (Sha I) which they strive to perpetuate in their work.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 8.

आत्मा में प्रतिविम्वित, न देखने तक रूप को पूरी तरह समझना या प्रकट करना असंभव है; इसे जापान भी कहता है, हमारे ऋषिगण भी कह गये हैं।

छायातपयोरिव ब्रह्मलोके। रूप प्रकट हो रहा है छायातप के वैषम्य के अन्दर से, जैसे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य नश्नन्नन्योहभिचाकशीति॥

—मुंडक उपनिषद

दो सुन्दर चिड़ियां, सफेद और काली, जागती और सोती; मानो छायातप की भाँति एकत्र रह रही हैं। एक चिड़िया फल चख रही है, गा रही है, दूसरी चुपचाप बैठी देख रही है। जीवात्मा परमात्मा है, (Spirit and Matter), आकार, निराकार, रूप और अरूप—इन दोनों की समता और विषमता व्यक्त कर रही है। भारत की उल्लिखित जो सनातन चिन्ताएँ उनकी ठीक-ठीक प्रतिध्वनि देता है जापान-चित्र शिल्प का In Yo मंत्र, जैसे—

In yo....requires that there should be in every painting the sentiment of active and passive, light and shade[छायातप]....The term In-Yo originated in the earliest doctrines of Chinese philosophy and has always existed in the art-language of the orient. (?) It signifies darkness [In = छाया] and light [Yo = आतप], negative and positive, female and male [प्रकृति पुरुष], passive and active [जैसे द्वा सुपर्णा], lower and upper [उत्तमाधम] even and odd....Two flying crows, one with its beak closed, the other with its beak open....or two dragons, one ascending to the sky, the other descending to the ocean—illustrate the phases of In-Yo.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 48.

हमारे षडंग का द्वितीय अंग 'प्रमाणानि' (Correct perception, proportion, measure and structure of forms) और चीन-षडंग के द्वितीय अंग (anatomical structure) साधारण तौर से मिल रहे हैं, ऐसी बात नहीं। चीन और जापान के चित्रशिल्प में इस प्रमाप्रयोग के पुंखानुपुंख उपदेश भी मानो प्रमा के बारे में हमारे विचारों की

प्रतिध्वनि कर रहे हैं। प्रमा से हम समझते हैं किसी वस्तु का भ्रमशून्य ज्ञान—उसके लम्बाई चौड़ाई आदि का परिमाण। जापान-शिल्प का (Ichi Isho) इसी विचार की प्रतिध्वनि कर रहा है, जैसे—

Ichi and Isho....they aim to supply and express with sobriety what is essential to the composition, proportion (Ichi) determining the just arrangement and distribution of the component parts, and design (Isho) the manner in which the same shall be handled.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 46.

प्रमाण या प्रमा केवल वस्तु की लम्बाई चौड़ाई का ही बोध कराती है ऐसी बात नहीं, प्रमा से हम वस्तु की दूरी और निकटता का निरूपण करते हैं। चीनी शिल्पशास्त्र में इस दूरी और निकटता का बोध करानेवाली नीति के बारे में कहा गया है—

En kin....so far as the perspective is concerned, in the great treatise of Chu Kaishu entitled. The Poppy Garden Art Conversation, a work laying down the fundamental laws of landscape painting, artists are specially warned against disregarding the principle of perspective called En-Kin, meaning what is far and what is near.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 8.

हमारे अलंकारशास्त्र में कहा गया है, जैसे—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यंत्ववरम् स्मृतम्।

—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास

चित्रमात्र ही अवर है—क्या शब्द चित्र क्या वाच्य चित्र—अगर उसमें व्यंग्य नहीं रहता है, इंगित नहीं रहती है। जापानी शिल्पशास्त्र में व्यंग्य को कहा गया है—

Yu kashi....such suggestion or stimulation of the imagination is called Yu kashi. The Japanese painter is early taught the value of suppression in design.

—On the Laws of Japanese Painting, p. 47.

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे वेदान्त उपनिषद् आदि की गंभीरतम सूक्ष्मतम चिन्ताएं चीन और जापान के चित्र के सम्बन्ध में षडङ्ग-दर्शन की प्रतिध्वनि दे रही हैं।